

गीताविज्ञानभाष्य-रहस्यकाण्डान्तर्गत-

गीताविषयरहस्य

[द्वितीय खण्ड]

ब्रह्मकर्म्म-रहस्य

पं॰ मोतीलाल शास्त्री

वेदवीथीपथिकः



प्रकाशक :

राजस्थान पत्रिका प्रकाशन

केसरगढ़, जवाहरलाल नेहरू मार्ग, जयपुर ।



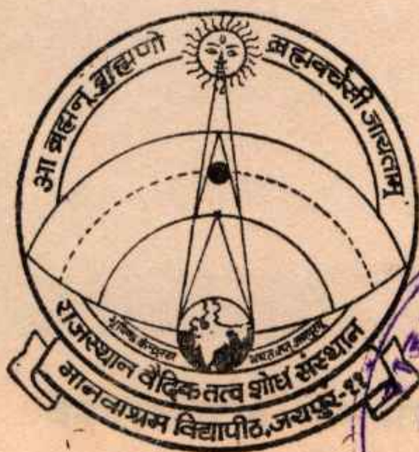
गीताविज्ञानभाष्य-रहस्यकाण्डान्तर्गत–

गीताविषयरहस्य

[द्वितीय खण्ड]

ब्रह्मकर्म्म-रहस्य

पं० मोतीलाल शास्त्री
वेदवीथीपथिक:



मूल्य ([illegible]४) रुपये मात्र

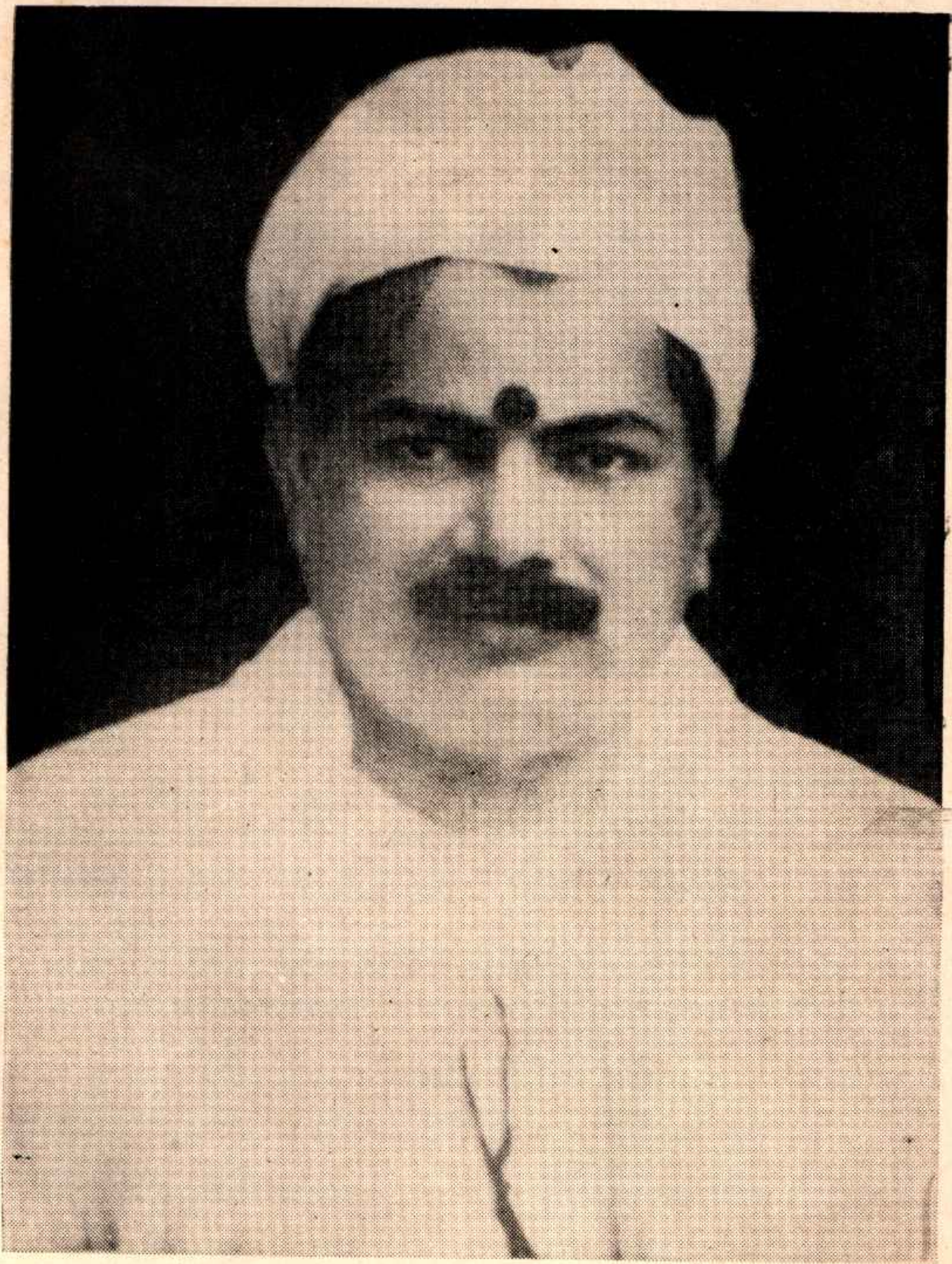
प्रकाशक :
राजस्थान पत्रिका लिमिटेड,
केसरगढ़ जवाहरलाल नेहरू मार्ग,
जयपुर ।



ग्रन्थ-प्राप्ति
राजस्थानवैदिकतत्त्वशोध-संस्थान
"मानवाश्रम", दुर्गापुरा रोड,
जयपुर–१८



मुद्रक :
श्रीबालचन्द्र यन्त्रालय,
"मानवाश्रम", दुर्गापुरा रोड,
जयपुर–१८



वेदवाचस्पति पं० मोतीलालजी शास्त्री

प्रकाशकीय

वेदवाचस्पति पं० मोतीलाल शास्त्री जी ने अपने गुरुवर विद्यावाचस्पति स्व० पं० मधुसूदन जी ओझा द्वारा विरचित गीताविज्ञानभाष्य के आधार पर 'ब्रह्मकर्म्मरहस्य' नामक इस लघु ग्रन्थ की रचना की है—जिसका प्रकाशन करते हुए मुझे अतीव हर्ष हो रहा है।

श्रीमद्भगवद्गीता में आत्मा को ज्ञानकर्म्मोभयात्मक बतलाया गया है। इसी सन्दर्भ में प्रस्तुत ग्रन्थ में स्व० शास्त्री जी ने गीता-प्रतिपादित इसी आत्मा के ज्ञान-क्रिया अर्थात् ब्रह्म-कर्म्म के तात्त्विक स्वरूप का विवेचन करते हुए सृष्टिप्रक्रिया के सन्दर्भ में त्रिसत्यवाद-द्विसत्यवाद-असद्वाद-सदसद्वाद-सिद्धान्तवाद-सद्वाद इत्यादि मतवादों का दार्शनिक एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विशद निरूपण किया है।

स्व० शास्त्री जी द्वारा विरचित ग्रन्थों के प्रकाशन-कार्य्य से जुड़े प्रो० मदनमोहन शर्म्मा ने उक्त ग्रन्थमाला के अन्तर्गत मूलपाण्डुलिपि के पाठ-निर्धारण, भाषा-सम्पादन एवं मूल संस्कृत-अंशों के प्रामाणिक पाठ-निर्धारण में बहुमूल्य योगदान किया है, इसके लिए वे साधुवाद के पात्र हैं।

स्व० शास्त्रीजी के सुपौत्र चि० प्रद्युम्नकुमार शर्म्मा ने ग्रन्थ के विभिन्न स्थलों पर पाद-टिप्पणियाँ देकर, ग्रन्थ में उद्धृत सन्दर्भों के स्रोतों का सन्धान कर, सन्दर्भों को अंकित किया है। उनका परिश्रम श्लाघनीय है।

श्री हीरालाल गहलोत मूलपाण्डुलिपि के सुपाठ्य-पुनर्लेखन, प्रूफसंशोधन एवं सन्दर्भ-शोधन में सहायता प्रदान करने के लिए धन्यवाद के पात्र हैं।

मैं आशा करता हूँ कि गीताप्रेमी एवं दर्शनप्रेमी प्रबुद्ध पाठक स्व० शास्त्री जी द्वारा कृत इस 'ब्रह्मकर्म्म-रहस्य' के विश्लेषण से लाभान्वित होंगे।

इसी विश्वास के साथ यह लघु ग्रन्थ पाठकों की सेवा में प्रस्तुत है।

—कर्पूरचन्द्र 'कुलिश'

अक्षय तृतीया
वि० सं० २०५०

गीताविषयरहस्ये—

ब्रह्मकर्म्म-रहस्यम्

अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन

—गीता ६।१६

त्रिसत्यवादः—१-ब्रह्म, २-कर्म्म, अभ्व

द्विसत्यवादः—१-ब्रह्म, २-कर्म्म

असद्वादः— १-कर्म्म

सदसद्वादः—१-अमृत-मृत्यु——सिद्धान्तवादः

सदवादः— १-ब्रह्म

ब्रह्मकर्म्मरहस्य

"न ब्रह्मवैज्ञानिकबोधमन्तरा गीतारहस्यं प्रतिभाति कर्हिचित् ।
तस्मात् पृथक् तावदिदं निरूप्यते निगूढगीताहृदयं समासतः" ।।

पूर्व के आत्मदर्शनप्रकरण से यह भलीभांति सिद्ध हो जाता है कि **गीता** अध्यात्मशास्त्र है–आत्मनिरूपणशास्त्र है । इस आत्मा में हम सदा दो भावों की सत्ता पाते हैं । वे दोनों भाव **ज्ञान** और **कर्म्म** इन नामों से प्रसिद्ध हैं । आत्मा जानता है और करता है । 'ज्ञायते' और 'क्रियते' के अलावा आत्मा में और कुछ भी नहीं है । सारा संसार जानना और करना–इन दो धर्म्मों से बद्ध है । हम कुछ जानते हैं और कुछ करते हैं । बस, यहीं तक हमारी अर्थात् आत्मा की दौड़ है । चूँकि आत्मा में हम **जानना** और **करना**–ये दो नैसर्गिक धर्म्म देखते हैं, अतएव हमें बाध्य होकर आत्मा को ज्ञानकर्म्मोभयात्मक मानना पड़ता है । न आत्मा शुद्ध ज्ञानमय है, न आत्मा शुद्ध कर्म्ममय है अपि तु, **उभयात्मक** है । जो ज्ञान भाग है–वही **ब्रह्म** कहलाता है । यही गीता में **अमृत-**शब्द से व्यवहृत किया गया है एवं कर्म्म मृत्युशब्द से पुकारा जाता है । इस प्रकार आत्मप्रजापति का आधाभाग अमृत है–आधा मर्त्य है । दोनों की समष्टि **आत्मा** है । आत्मा ब्रह्मकर्म्ममय है–इसका प्रतिपादन करने वाली—

"अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्द्धममृतम्" ।[1]

–इस श्रुति से कौन परिचित न होगा ? बस, गीता इसी ब्रह्मकर्म्ममयात्मा का निरूपण करती है । आत्मा का ब्रह्मभाग–अव्यय, अक्षर, क्षर–इन तीन भागों में विभक्त है । अव्ययब्रह्म, अक्षरब्रह्म, क्षरब्रह्म–इन तीनों की

---

१ शत०ब्रा० १०।१।३।२ ।

समष्टि **ब्रह्म** कहलाती है। **समुदाये दृष्टाः शब्दा अवयवेष्वपि वर्त्तन्ते**—इस न्याय से ब्रह्म के तीनों अवयव भी (अव्यय, अक्षर, क्षर) ब्रह्म कहलाने लगते हैं। इन तीनों में से वैशेषिकतन्त्र क्षरब्रह्म का निरूपण करता है, शारीरकतन्त्र अक्षरब्रह्म का निरूपण करता है एवं हमारी यह गीता अव्ययब्रह्मविद्या बतलाती है। तीन ब्रह्म हैं, तीनों में से अव्ययलक्षणब्रह्मविद्यामात्र का प्रतिपादन करना गीता का काम है। यद्यपि तीनों के अविनाभूत रहने से दृष्टि तीनों पर ही है, तथापि गीता का प्रधान लक्ष्य 'अव्ययब्रह्मविद्या-निरूपण' ही है।

एवमेव आत्मा का कर्म्मभाग भी ज्ञानयोग, कर्म्मयोग और बुद्धियोग—इन तीन भागों में विभक्त है। निवृत्तिलक्षणकर्म्म चूँकि कर्म्म-प्रपञ्च को दूर कर ज्ञानोदय का साधक बनता है, अतएव इस (निवृत्तिलक्षणकर्म्मयोग) को कर्म्मयोग न कहकर **ज्ञानयोग** कह दिया जाता है एवं प्रवृत्तिलक्षणकर्म्म चूँकि आवरक है, अतएव उसे **कर्म्मयोग** ही कह दिया जाता है एवं प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों की मिश्रित अवस्था लिए हुए जो कर्म्म है—वह **बुद्धियोग** कहलाता है। बुद्धियोग में फलकामना का सर्वथा परित्याग है—इसलिए तो वह 'ज्ञानयोग' बन जाता है एवं कर्म्म में खूब ही प्रवृत्ति है, इसलिए 'कर्म्मयोग' बन जाता है। फलत्याग है, कर्म्मग्रहण है। बस, इस प्रकार सारा कर्म्मप्रपञ्च निवृत्ति, प्रवृत्ति, उभयात्मक—इन तीन भागों में विभक्त है। निवृत्तिकर्म्म शुद्धज्ञान का जनक होने से ज्ञानयोग है। कर्म्मयोग शुद्धकर्म्म है, बुद्धियोग ज्ञानकर्म्मोभयात्मक है। बस, कर्म्म के विषय में ये ही तीन निष्ठा (विश्वास) प्रचलित हैं। जैसे गीता ब्रह्मत्रयी में से केवल अव्ययब्रह्म का प्रतिपादन करती है, तथैव कर्म्मत्रयी में से बुद्धियोगनिष्ठालक्षणकर्म्मविद्या का निरूपण करती है। गीता ब्रह्मविद्या और कर्म्मविद्या—ये दो विद्याएँ बतलाती है। यदि आपसे कोई प्रश्न करे कि गीता में क्या बतलाया गया है? गीता किसका निरूपण करती है? तो आप निःसंदिग्ध होकर उत्तर दीजिए—गीता आत्मा का निरूपण करती है। आत्मा ब्रह्मकर्म्ममय है। ब्रह्म क्षराक्षराव्यय भेदेन त्रिधा विभक्त है। कर्म्म-'ज्ञान, कर्म्म, बुद्धि' भेदेन त्रिधा

विभक्त है। इनमें से गीता अव्ययलक्षणब्रह्मविद्या का एवं बुद्धियोगनिष्ठा-लक्षणकर्म्मविद्या का सिद्धान्तरूप से निरूपण करती है । बुद्धियोग चूँकि कर्म्म ही है, इसलिए गीता 'कर्म्मयोग' शास्त्र है एवं अव्यय ब्रह्म है, इसलिए गीता आत्मयोगशास्त्र है। परन्तु जैसा कर्म्मयोग का अर्थ आजकल लोगों ने समझ रखा है–वह यहाँ सर्वथा अभिप्रेत नहीं है । अस्तु, प्रकृत में हमें गीता का सिद्धान्त बतलाना है। गीता का **ब्रह्म और कर्म्म**–ये दो ही सिद्धान्त हैं, अतएव सबसे पहले ब्रह्म और कर्म्म–इन दोनों का विज्ञान बतलाते हैं।

जिस ब्रह्म और कर्म्म के ऊपर सारा गीताशास्त्र अवलम्बित है–सर्वप्रथम उसी का वैज्ञानिकस्वरूप बतलाना चाहिए। आज तक ब्रह्मकर्म्म के विषय में क्या-क्या मत चले आ रहे हैं? प्राचीनों ने **ब्रह्मकर्म्म** की मीमांसा कैसे की है ? उन्होंने ब्रह्मकर्म्म का कैसा स्वरूप समझा है ? गीता में प्रविष्ट होने से पहले इन झगड़ों को तय कर लेना चाहिए । जिस ब्रह्मकर्म्म का गीता प्रतिपादन करती है–सर्वप्रथम उसका विज्ञान समझ लेना चाहिए। विना ब्रह्मकर्म्म-रहस्य समझे **गीता का अर्थ** समझना कठिन ही नहीं अपि तु, असंभव है। इसी अभिप्राय से भाष्यकार कहते हैं—

"अव्ययलक्षणब्रह्मविद्या, बुद्धियोगनिष्ठालक्षणकर्म्मविद्या चेत्युभयविध एवार्थः खल्वेतस्यां भगवद्गीतोपनिषदि सिद्धान्तरूपेण निरूप्यते । तथा चैतं भगवद्गीतासिद्धान्तमुपपादयितुं ब्रह्मकर्म्मोभयविवेक लक्षणं विज्ञानं तावत् प्रदर्श्यते" ॥

कितने ही दार्शनिकों का कहना है कि तत्त्व कुल तीन ही हैं । वे तत्त्व १–ब्रह्म, २–कर्म्म, ३–अभ्व–इन नामों से व्यवहृत होते हैं। 'ब्रह्म' ज्ञान का नाम है एवं 'कर्म्म' क्रिया कहलाती है। ये दोनों तो 'पदार्थ' हैं। जो दीखता है परन्तु वस्तुतः कुछ है नहीं, वही **अभ्व** है। इन तीन तत्त्व मानने वालों का अभिप्राय यही है कि ब्रह्म शुद्धज्ञानस्वरूप है। क्रिया कर्म्मरूपा है। सारा संसार इसी कर्म्म से उत्पन्न होता है। परन्तु जब तक **ब्रह्म** का सम-न्वय न हो तब तक कर्म्म सृष्टि–प्रक्रिया में सर्वथा असमर्थ है। विना सम-

न्वय के सृष्टि हो ही नहीं सकती । ब्रह्म में जब कर्म्म घुसता है तो उस शान्त ब्रह्म में क्षोभ उत्पन्न होता है । उसी क्षोभ से सृष्टिधारा चलती है ।

अब यहाँ पर एक बडी भारी अड़चन उपस्थित होती है–वह यही है कि ब्रह्म स्वयं असंग है–निष्क्रिय है । ऐसी अवस्था में कर्म्म को ब्रह्म में मिलाने वाला कौन ? किसने कर्म्म को ब्रह्म में शामिल किया ? अव्ययाक्षरादि तीनों ब्रह्म ब्रह्म में गए, ज्ञानयोग, कर्म्मयोग, बुद्धियोग तीनों कर्म्म कर्म्म में गए। इन दोनों का समन्वय किसने कराया ? कर्म्म को ब्रह्म में किसने मिलाया किंवा ब्रह्म को कर्म्म में किसने मिलाया । बस, इस विप्रतिपत्ति को दूर करने के लिए एक तीसरा तत्त्व मानना पड़ता है–वही **अभ्व** कहलाता है । यह अभ्व न कर्म्म है, न ब्रह्म है, अपि तु, दोनों से पृथक् है । ब्रह्म और कर्म्म का समन्वय कराने वाला यही **अभ्व** है । बात है भी ठीक । एक तरफ एक कागज रखा है, दूसरी ओर दूसरा कागज रखा है । उन दोनों के मिलने से 'कापी' बनती है । इसके लिए तीसरे सुई, डोरे की अथवा गूंद की आवश्यकता होती है । कागज कागज अपने आप नहीं मिल सकते । अपि तु, उनको मिलाने वाला तीसरा गूंद होता है । कापी का स्वरूप यद्यपि इन दोनों कागजों के समन्वय पर ही अवलम्बित है, परन्तु इन दोनों का समन्वय उस तीसरे गूंद पर निर्भर है, जो कि दोनों से सर्वथा पृथक् है । बस, ठीक वही बात यहाँ भी समझनी चाहिए । एक तरफ ब्रह्म है, दूसरी ओर कर्म्म है । दोनों के समन्वय पर सृष्टि का स्वरूप बनता है । ब्रह्म और कर्म्म दोनों के मेल से सृष्टि होती है, परन्तु इन दोनों का समन्वय कराने वाला है–यह तीसरा अभ्व । अभ्व न ब्रह्म है, न कर्म्म है–दोनों से पृथक् है–दोनों का समन्वय कराने वाला है । इस प्रकार ब्रह्म, कर्म्म और अभ्व–इन तीन तत्त्वों की सत्ता माननी पड़ती है । इन तीनों में से ब्रह्म और कर्म्म–ये दो तो सत्तासिद्ध पदार्थ हैं । ब्रह्म ज्ञान का नाम है एवं कर्म्म क्रिया का नाम है । जानना ज्ञान कहलाता है एवं संसार के यच्चयावत् पदार्थ क्रियारूप हैं कर्म्मरूप हैं । क्रिया समूह ही गुण कहलाता है । गुणसमूह ही द्रव्य कहलाता है, अतएव **गुणकुटोद्रव्यम्** –यह कहा जाता है । पृथिवी, जल, तेज, वायु, सूर्य्य, चन्द्र, ग्रह–इत्यादि-इत्यादि सारे पदार्थ कर्म्ममय हैं । हजारों लाखों, नहीं-नहीं असंख्य गुणसमष्टि

ही सूर्य्यचन्द्रादि बने हुए हैं। आप हाथ में एक ढेला उठाइए-वह गुण की ढेरी है। गुण क्रिया की ढेरी है। क्रिया ही कर्म्म है। इस प्रकार जो कुछ आप आँखों से देख रहे हैं एवं उसके कार्य्यकारण-भाव से भलीभाँति परिचित हैं-वही **कर्म्म है** एवं ज्ञान के विषय में तो कुछ कहना ही नहीं। एक पाँच वर्ष के बच्चे को भी-"मुझे यह अच्छा नहीं लगता," "मैं तो यही लूँगा", "मुझे तमाशा अच्छा लगता है"-इस प्रकार से ज्ञान का प्रत्यक्ष हुआ करता है।

इस प्रकार ज्ञान और क्रिया अर्थात् ब्रह्म और कर्म्म-इन दो तत्त्वों का स्वरूप तो अत्यन्त स्फुट है-सर्वविदित है। परन्तु यह तीसरा तत्त्व बडा ही विलक्षण है। संसार में जो वस्तु दीखती है, परन्तु उपपन्न नहीं होती वही **अभ्व है**। जिसका कोई कार्य्यकारण-भाव नहीं, अतएव अपदार्थ होते हुए जो भासित होता रहता है-वही **अभ्व** है। जिसके लिए-"ऐसा हो नहीं सकता, परन्तु मालूम होता है, वस्तु कुछ नहीं है, परन्तु प्रतीत हो रही है"-इन शब्दों का प्रयोग होता है-वही अभ्व है। बाजीगर टोकरी में हमारे सामने एक पत्थर रखता है और थोड़ी देर बाद टोकरी को हटाता है तो उसमें से 'कबूतर' निकलता है। हम यह खूब समझते हैं कि पत्थर कभी कबूतर नहीं बन सकता। पत्थर और कबूतर बन जाए ? यह बात सर्वथा अनुपपन्न है, परन्तु दीखता तो कबूतर ही है। "पत्थर कबूतर नहीं बन सकता है-यह बात सच है; परन्तु कबूतर दीख रहा है"-यह भी तो मिथ्या नहीं है। बस, यही **अभ्व** है। जिसने अनुपपन्न पत्थर को कबूतर बना दिया है-वही अभ्व है।

इसी प्रकार दिन-रात पर दृष्टि डालिए। दिन एक पदार्थ है। दिन का जो 'अभाव' है-उसी का नाम 'रात' है। सूर्य्य का न रहना ही रात होना है। रात कोई पदार्थ नहीं है। अपि तु, पदार्थाभाव है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि उसका कोई कार्य्यकारण-भाव नहीं है। प्रकाश के लिए जैसे दियासलाई की अपेक्षा रहती है-सूर्य्य की अपेक्षा रहती है, तद्वत् रात के लिए किसी की अपेक्षा नहीं रहती। कदाचित् कहो कि सूर्य्य के नहीं रहने से चूंकि रात्रि होती है, अतएव हम सूर्य्य के नहीं रहने को ही रात्रि का

कारण बतलाएँगे । इसके उत्तर में हमें यही कहना है कि 'नहीं' तो कारण नहीं बन सकता । 'नहीं' अभाव का नाम है । जो स्वयं नहीं है—वह दूसरे का कारण क्योंकर बन सकता है । अभाव को कारण कैसे माना जा सकता है ? इस प्रकार सिद्ध हो जाता है कि रात्रि अपदार्थ है । परन्तु फिर भी प्रतीति तो हो रही है । इतना ही नहीं-अपि तु, उसे दिन के माफिक समान दर्जा दिया जाता है । रात कोई चीज नहीं तथापि आमतौर से 'दिन-रात' 'रात-दिन'—यह व्यवहार चला आ रहा है । रात के बाद दिन, दिन के बाद रात—इस प्रकार रात-दिन का जोड़ा है । यह व्यवहार अतिसुप्रसिद्ध है । रात कोई वस्तु नहीं है । उसका कोई कार्य्यकारण-भाव नहीं है—फिर भी लोग उसे मानते ही हैं । बस, प्रतीति के साधनभूततत्त्व को ही **अम्ब** कहा जाता है ।

और लीजिए—दूरी, नजदीक, नीचे, ऊपर, कम, ज्यादा—ये सब उसी अम्ब की महिमा हैं । सेर, दो सेर, दो, चार, पाँच—ये सब अपदार्थ हैं । सेर, दो सेर, तीन, चार, पाँच कोई वस्तु नहीं हैं—परन्तु इनसे संसार का काम चल रहा है । पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण—ये दिशाएँ क्या कोई पदार्थ हैं ? परन्तु किसे इनकी प्रतीति नहीं होती ? सबसे पहले दूरी और नजदीकी को ही लीजिए । एक मनुष्य हमारे से १० हाथ दूर खड़ा हुआ है, एक २० हाथ दूर खड़ा है । दोनों में से एक नजदीक है, दूसरा दूर है । परन्तु १० हाथ पर खड़े हुए मनुष्य से हमारे से २० हाथ दूर खड़ा हुआ मनुष्य नजदीक है । जो हमारे से दूर है—वह उससे नजदीक है, अतएव मानना पड़ता है कि दूरी नजदीकी कोई वस्तु नहीं है । सूर्य्य एक वस्तु है, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि वह कभी चाँद नहीं बन सकता । परन्तु दूरी नजदीकी कोई वस्तु नहीं है । क्योंकि जिसकी अपेक्षा से कोई दूर होता है—वही दूसरे की अपेक्षा से नजदीक बन जाता है । दूर नजदीक बन जाता है, नजदीक दूर बन जाता है । यदि सूर्य्यचन्द्रादिवत् दूरी, नजदीकी कोई वस्तु होती तो जैसे सूर्य्य सूर्य्य ही रहता है—वह कभी चाँद नहीं बनता—चाँद चाँद ही रहता है—वह कभी सूर्य्य नहीं बनता तथैव दूरी कभी नजदीकी नहीं बनती और न नजदीक कभी दूरी बनती । परन्तु बनती है, अतएव हम इन्हें अपदार्थ केवल (भातिसिद्ध)

कहने के लिए तय्यार हैं। एवमेव नीचे, ऊपर को लीजिए। दूसरी मंजिल में रहने वाला मनुष्य पहली मंजिल वाले से ऊपर है, परन्तु वही तीसरी मंजिल वाले से नीचे है। जो नीचे है, वह दूसरे की अपेक्षा ऊँचा है एवं जो ऊँचे हैं–वे दूसरे की अपेक्षा नीचे हैं, अतएव हम इन्हें भी अपदार्थ कहने के लिए तय्यार हैं। इसी प्रकार कम ज्यादा को लीजिए—

एक सेर वस्तु दो सेर की अपेक्षा कम है, परन्तु आधा सेर की अपेक्षा वही एक सेर ज्यादा है। जो ज्यादा है–वही कम है। एवमेव पुत्र अपने पिता से छोटा है, परन्तु छोटे भाई की अपेक्षा बडा है। एवमेव मामा-भानजा, काका-भतीजा, बाबा-पोता, नाना-दोहित्र–ये भी अपदार्थ ही हैं। सब सब हो सकते हैं। उदाहरणार्थ एक मनुष्य अपने भानजे का मामा है एवं मामा का भानजा है। भतीजे का काका है, काका का भतीजा है। बाबा का पोता है। पोते का बाबा है। नाना का दोहिता है, दोहिते का नाना है। पुत्र का पिता है, पिता का पुत्र है। श्वसुर का जामाता है, पुत्रवधु का श्वसुर है। साले का जीजा है, जीजे का साला है–इस प्रकार एक ही मनुष्य मामा, भानजा, काका, भतीजा, बाबा, पोता, नाना, दोहित्र, पिता, पुत्र, श्वसुर, जामाता, साला, जीजा सब कुछ है। जो मामा है–वही काका है, जो काका है–वही बाबा है। बस, अतएव हम इन सबको 'अपदार्थ' कहने के लिए तय्यार हैं। एवमेव सेर, दो सेर को लीजिए। कहीं का सेर ८० तोले का है, तो कहीं का ४० ही तोले का है। ८० तोले वाले सेर ४० तोले वाले सेर की अपेक्षा आधा सेर ही है एवं ४० तोले के सेर की अपेक्षा से ८० तोले वाला सेर दो सेर है। एवमेव १ से ऊपर की जितनी संख्या हैं–सब मिथ्या हैं। आप जिन्हें पाँच बतलाते हैं–वे सब **अयमेकः, अयमेकः, अयमेकः, अयमेकः, अयमेकः**–से सब एक हैं। एवमेव पूर्व-पश्चिम भी कोई वस्तु नहीं हैं। १० आदमी आगे-पीछे सूर्य्याभिमुख बैठे हुए हैं। अपेक्षया सब पूर्व में हैं, सब पश्चिम में हैं। जो सबसे आगे का मनुष्य है वह आगे के स्थान से पश्चिम है एवं जो सबसे पश्चिम का मनुष्य है–वह अपने पीछे के पदार्थ से पूर्व है। कहना सारे प्रपञ्च से यही है कि दिग्–देश, काल, संख्या, परिमाण, पृथक्, गुरुत्व, अपरत्व, उत्क्षेपणापक्षेपणत्व इत्यादि-इत्यादि सब अपदार्थ हैं। यह

वस्तु नहीं है, तथापि इस पर सारा सांसारिक व्यवहार निर्भर है । कुछ नहीं होते हुए भी प्रतीत हो रहे हैं–व्यवहार में आ रहे हैं । ये सारी महिमा उसी अभ्व की है । चूँकि पूर्वोक्त अपदार्थ दीखते हैं, परन्तु उपपन्न नहीं हैं, अतएव 'अभूत्वा भाति' 'न भवन् भाति'–इस व्युत्पत्ति से इस प्रपञ्च को **अभ्व** कहा जाता है । जो कुछ न होकर या कुछ न होता हुआ प्रत्यक्ष का विषय बने वही अभ्व है ।

यदि इसका स्वरूप ही देखना चाहते हो तो नाम और रूप को देख लो । नाम भी अभ्व है, रूप भी अभ्व है । नामरूपस्वरूप अभ्व से ही ब्रह्म-कर्म्म में समन्वित रहता है । नामरूप ने ही ब्रह्म को कर्म्ममय जगत् में बद्ध कर रखा है । देवदत्त-यज्ञदत्त इत्यादि नाम ही नाम हैं एवं काला-पीला ये ही रूप हैं । दोनों के अलावा संसार में और है ही क्या ? सारा जगत् इसी नामरूप से व्याप्त है–यही अभ्व है । वस्तु असल में ब्रह्म और कर्म्म है, परन्तु कुछ न होने वाले नामरूप का ही राज्य है । इसी अभ्व का स्वरूप बतलाती हुई श्रुति कहती है—

"अथ ब्रह्मै व परार्धमगच्छत् । तत्परार्धं गत्वैक्षत कथंन्विमाँल्लोकान्प्रत्यवेयामिति । तदद्वाभ्यामेव प्रत्यवैद्रूपेण चैव नाम्ना च । स यस्य कस्य च नामास्ति तन्नाम । यस्योऽअपि नाम नास्ति यद्वेद रूपेण-'इदं रूपमिति' तद्रूपम् । एतावद् वा इदं यावद्रूपं चैव नाम च । ते हैते ब्रह्मणो महती अभ्वे (हाभू) महती यज्ञे (बलाय) –इति" ॥ [1]

इस प्रकार कितने ही दार्शनिक ब्रह्म-कर्म्म और अभ्व तीन तत्त्व मानते हैं एवं तीनों में से ज्ञान को ब्रह्म कहते हैं–क्रिया को कर्म्म कहते हैं एवं जो प्रतीत हो रहा है, परन्तु अनुपपन्न है, ऐसे नामरूप-प्रपञ्च को अभ्व कहते हैं । उनका कहना है कि इस अभ्व से ही ब्रह्म-कर्म्म का समन्वय हो रहा है । इसी मत का निदर्शन कराते हुए भाष्यकार कहते हैं—

---

१ शत०ब्रा० ११।२।३।२-३ ।

"एके तावदाहुः–ब्रह्म, कर्म्म, अभ्वमिति त्रीणि तत्त्वानि । ब्रह्म ज्ञानम् । कर्म्म क्रिया । अथ यद् दृश्यते, किन्तु नोपपद्यते तदभ्वम् । नामरूपे हीमे अभ्वमिति" । (इति त्रिसत्यवादः) ॥१॥

परन्तु कितने ही दार्शनिकों का कहना है कि ब्रह्म और कर्म्म दो ही तत्त्व हैं । मायामय जो अभ्व है–उसका इसी कर्म्म में अन्तर्भाव हो जाता है । मायामय से मायाबल अपेक्षित नहीं समझना चाहिए अपि तु, माया का अर्थ प्रकृत में **धोखा** समझना चाहिए । कुछ नहीं परन्तु भान होता है–यही धोके की टाटी है । यक्ष महिमा है । इन दार्शनिकों के मत में यह धोखा-स्वरूप (मायास्वरूप) अभ्व तत्त्व नहीं है । इनका तात्पर्य्य यही है कि ब्रह्म और कर्म्म इनके समन्वय के लिए जो तीसरा अभ्व माना जाता है–उसके मानने की कोई आवश्यकता नहीं है । अभ्वतत्त्व मानने वालों का कहना था कि कर्म्म कर्म्म एक तरफ है एवं ब्रह्म ब्रह्म एक तरफ है । इन दोनों का समन्वय कराने वाला दोनों से अलग मानना पड़ता है–वही अभ्व है । अभ्व द्वारा ही कर्म्म ब्रह्म में समन्वित होता है एवं ब्रह्म कर्म्म में समन्वित होता है । इसका खण्डन करते हुए ये दार्शनिक कहते हैं कि कर्म्म को ब्रह्म में समन्वित करने के लिए किसी दूसरे की आवश्यकता ही नहीं है ।

कर्म्म क्रिया को कहते हैं । क्रिया की तीन अवस्था होती हैं १–प्रवृत्ति, २–निवृत्ति, ३–और स्तम्भ । क्रिया का जो अग्र व्यापार है–वही प्रवृत्ति क्रिया है । पृष्ठतःव्यापार निवृत्ति क्रिया है । दोनों का समन्वय स्तम्भ है । घुसना प्रवृत्ति है, निकलना निवृत्ति है । जब दोनों मिल जाते हैं तो स्तम्भन हो जाता है । जाना प्रवृत्ति है, आना निवृत्ति है । दोनों का योग स्तम्भन है । इस प्रकार क्रिया के कुल तीन ही आरम्भ होते हैं । प्रवृत्ति भी क्रिया का ही काम है, निवृत्ति भी क्रिया का ही काम है । स्तम्भन भी क्रिया का ही काम है । काम क्या है, क्रिया की ये तीन अवस्थाएँ हैं । तुम कहते हो क्रिया का समन्वय कराने वाला क्रिया को (कर्म्म को) ब्रह्म में प्रविष्ट कराने वाला कोई तीसरा होना चाहिए । हम कहते है कि प्रविष्ट होना और निकलना तो क्रिया का प्रातिस्विक धर्म्म है । घुसने वाला

घुसना तो स्वयं कर्म्म है। उसके लिए किसी तीसरे की क्या आवश्यकता है? आपने ब्रह्मवत् कर्म्म को भी असंग समझ रखा है। आपकी दृष्टि में दोनों कागज हैं, परन्तु आप भूल करते हैं। दोनों कागज नहीं हैं—एक कागज है, दूसरा गूंद हैं। आपने ब्रह्मवत् कर्म्म को भी असंग समझ रखा है। परन्तु आप भूलते हैं। कर्म्म स्वयं ससंग है—चिपकने वाला है। सिसृक्षा से वह कर्म्म प्रवृत्तिस्वरूप धारण कर लेता है एवं मुमुक्षा से निवृत्तिस्वरूप धारण कर लेता है। इन दोनों की सन्ध्यवस्था में वह स्तब्ध हो जाता है। जब कर्म्म प्रवृत्त होता है, तो सृष्टि हो जाती है—कर्म्म निवृत्त होता है तो मुक्ति (प्रलय) हो जाती है। इस प्रकार कर्म्म ही सृष्टि और प्रलय दोनों का कारण बन जाता है, अतएव इन दोनों से अलावा एक तीसरे अभ्वतत्त्व को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। आप (अभ्व मानने वाले) यदि ब्रह्मकर्म्म का स्वरूप समझ लेते तो आपको इतना भ्रम न होता। ब्रह्म दिग्देशकाल संख्या से अनवच्छिन्न है—असीम है—अखण्ड है—निरवयव है। परन्तु कर्म्म ठीक इसके विरुद्ध दिग्देशकाल से परिच्छिन्न है—संख्या से अनन्त है—खण्ड खण्ड है—सावयव है। परिच्छिन्न होने के कारण इसमें क्षोभ रहता है। क्षोभ ही का नाम हलचल है। यह हलचल ही उस ब्रह्म में समन्वय का काम दे जाती है। आत्मा में रस और बल दोनों मौजूद हैं। जिसके आने से रसोदय होता है—समझ लो वही ब्रह्म है एवं जो बल को उदित करता है—वही कर्म्म है।

संसार के यच्चयावत् पदार्थों में रस और बल दोनों तत्त्व मौजूद हैं। जड़-चेतन सबमें ये दोनों अविनाभाव से रहते हैं। परन्तु किसी में रस उल्बण रहता है—बल अनुल्बण रहता है एवं किसी में बल उल्बण रहता है—रस अनुल्बण रहता है। उदाहरणार्थ हम और पुस्तक—दोनों पर दृष्टि डालिए। हमारे में तो रस उल्बण है, अतएव हमें सुख-दुःखादि का अनुभव होता है। परन्तु पुस्तक में बल का राज्य इतना बढ गया है कि उसके सामने रस रहता हुआ भी नहीं रहने के समान है। बस, यही 'जड़' व्यवहार का आलम्बन है। जिसमें रस सुप्त हो एवं बल जागृत हो वह जड़ है तथा जिसमें बल सुप्तप्राय

हो एवं रस जागृत हो–वही चेतन है। बाजे मोके पर कितने ही कारणों के आने से प्रसुप्तरस जाग (उदित हो) पड़ता है। पुस्तक को आप पानी में डाल दीजिए। दो चार दिन बाद सारी पुस्तक चेतना-स्वरूप में परिणत हो जाएगी। अर्थात् सारी पुस्तक **कीड़े** के स्वरूप में परिणत हो जाएगी। पुस्तक लाखों लटें (कीड़े) बन जाएगी। बस, जिससे पुस्तक का प्रसुप्तरस भाग उदित होता है–वही 'ब्रह्म' कहलाता है। इतनी दूर जाने की क्या आवश्यकता है ? सोना (शयन) कर्म्म-भाव है। जगना ब्रह्म-भाव है। शयन में बल का राज्य रहता है–चेतना रूपरस दबा रहता है एवं जागृति में चेतनास्वरूपरस का राज्य रहता है। यहाँ पर स्वतः ही प्रश्न होता है कि यह रस-बल क्योंकर उल्बण-अनुल्बण होते रहते हैं ? बस, इसका उत्तर वही हमारा ब्रह्मकर्म्म है। सम्पूर्ण विश्व में ब्रह्मकर्म्म दो तत्त्व व्याप्त हो रहे हैं। जिस समय ब्रह्मतत्त्व का प्रवेश होता है, उस समय रसतत्त्व जाग पड़ता है एवं कर्म्मप्रवेशात् बल प्रवृद्ध हो जाता है। प्रातःकाल इसी ब्रह्मतत्त्व का राज्य रहता है, अतएव इस समय को 'ब्राह्ममुहूर्त्त' कहा जाता है। इस समय प्रकृति में ब्रह्मतत्त्व उल्बण रहता है, अतएव इसके प्रवेश से अध्यात्म का रसतत्त्व जागृत हो पड़ता है। कहना यही है कि जिसके प्रवेश से रसोदय होता है–वही ब्रह्म है एवं जिसके प्रवेश से बलोदय होता है–वही कर्म्म है। बस, सारे विश्व में ये ही दो तत्त्व हैं। इन दो से अलावा 'अभ्व' तत्त्व मानने की कोई आवश्यकता नही है। इस द्वितीय मत को बतलाते हुए भाष्यकार कहते हैं—

"परे त्वाहुः–ब्रह्मकर्म्मणी द्वे एव तत्त्वे नाभ्वम् । मायामयस्यैतस्याभ्वस्य कर्म्मण्येवान्तर्भावादिति । दिग्देशकालसंख्यातोऽनवच्छिन्नमनन्तमखण्डमनवयवं ब्रह्म । दिग्देशकालतोऽवच्छिन्नं संख्यातोऽनवच्छिन्नं सान्तं खण्डवद्रूपं सावयवं कर्म्म । रसोदयहेतुर्ब्रह्म । बलोदयहेतुः कर्म्म" ॥

(इति द्विसत्यवादः) ॥२॥

परन्तु एक तीसरा समुदाय और ही कुछ कहता है। उसका कहना है कि ब्रह्म कोई वस्तु नहीं है–जो कुछ 'है' कहकर व्यवहृत करने लायक है–वह सब कर्म्म ही कर्म्म है। कर्म्म को बल कहते हैं। बल ही श्रम का

(परिश्रम का) अधिष्ठाता है। अधिष्ठाता क्या है–वास्तव में बल ही श्रम है। चूँकि यह तीसरा दल इसी मत को मानता है, श्रम ही इनके मत की प्रधान भित्ति है, अतएव ये लोक **श्रमणक** नाम से प्रसिद्ध हैं। यह मत अति प्राचीन मत है। जैसे आज आस्तिक और नास्तिक दो दल हैं, तथैव वैदिक-काल में भी दो दल थे, एक ज्ञान का, ब्रह्म का उपासक था–वही दल **ब्राह्मण** नाम से प्रख्यात था। **ब्रह्मैवेदं सर्वं, नेह नानास्ति किञ्चिन**–ब्राह्मणदल का यही सिद्धान्त था। परन्तु दूसरा दल कहता था कि नहीं कर्म्म ही–श्रम ही सब कुछ है। इस प्रकार **कर्म्मैवेदं सर्वम्**–के उद्‌घोष के कारण श्रमोपासक-दल **श्रमणक** कहलाता था। बस, उस समय ब्राह्मण और श्रमणक–ये ही दो मत प्रचलित थे। इनमें से ब्राह्मणमत का प्रतिपादन आगे किया जाएगा–पहले सुक्ष्मरूप से **श्रमणक** मत बतला देते हैं। श्रमणों के मतानुसार ब्रह्म अर्थात् ज्ञान कोई वस्तु नहीं है। इनका कहना है कि सारे जगत् का मूल **असत्** कर्म्म ही है। उस असत् तत्त्व से–उस कर्म्मतत्त्व से ही चूँकि यह जगत् उत्पन्न हुआ है एवं **कारणगुणाः कार्य्य गुणानारम्भन्ते**–यह नियम है, अतएव यह सारा प्रपञ्च भी असदात्मक ही है।

सारा जगत् कर्म्ममय ही मानना पड़ता है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है–जहाँ देखते हैं–वहाँ काम ही काम देखते हैं। जिधर देखो उधर क्रिया ही क्रिया का प्रत्यक्ष होता है। मनुष्य पढ़ रहा है, चल रहा है, खा रहा है, बोल रहा है, हंस रहा है, सो रहा है, नाटक देख रहा है, व्याख्यान दे रहा है, वृक्ष हिल रहे हैं, वायु को खा रहे हैं, पशु घास चर रहे हैं, पक्षी आकाश में उड़ रहे हैं, मोर बोल रहे हैं, बतक पानी में तैर रहे हैं, राजा शासन कर रहा है, कौंसिल के मेम्बर कानून से मुकदमों का फैसला कर रहे हैं, बडे-बडे कारखाने चल रहे हैं, उनमें भाँति-भाँति के कपड़े बन रहे हैं–कहाँ तक गिनावें जिधर देखो उधर काम ही काम दिखलाई पड़ता है। सर्वत्र कर्म्म ही कर्म्म का राज्य है। खाना-पीना-सोना इत्यादि इत्यादि सब कर्म्म ही तो हैं। क्या कर्म्म की तरह किसी में ज्ञान का भी दर्शन किया है–हर्गिज नही। जिसे तुम ज्ञान कहते हो–वह भी एक कर्म्म विशेष ही है। भला, जब कर्म्म के अलावा और किसी का प्रत्यक्ष ही

नहीं होता तो फिर कर्म्म के अलावा जबर्दस्ती ही किसी **ज्ञान** नाम के (ब्रह्म-नाम के) भिन्न तत्त्व मानने की आवश्यकता ही क्या है ?

अपि च–वे लोग कहते हैं कि हम जिधर देखते हैं, उधर ही प्रतिक्षण में नया-नया रूप धारण करने वाली परिवर्त्तनात्मिका क्रिया का ही प्रत्यक्ष करते हैं । बस, प्रतिक्षण में होने वाले इस परिवर्त्तन को देखकर ही श्रवण-काचार्य असद्वाद की स्थापना करते हैं । उनका कहना है कि जबकि संसार प्रतिक्षण परिवर्त्तनशील है–प्रतिक्षण विलक्षण है, तो ऐसी हालत में इसे **सत्** क्योंकर माना जा सकता है ? जबकि यह जगत् सर्वथा असत् है तो मानना पड़ेगा कि इस जगत् का मूलतत्त्व भी असत् ही है । क्योंकि जैसा कारण होता है, तदनुरूप ही कार्य्योत्पत्ति होती है । घड़ा चूँकि नष्ट होने वाली मृतिका से बनता है, अतएव वह विनाशी है । चूंकि जगत् विनाशी है, अतः मानना पड़ेगा कि इस जगत् का मूलतत्त्व अवश्य ही विनाशी है–असत् है । अपि च–अनुभव से भी जगत् प्रतिक्षणविनश्यदवस्थायुक्त ही प्रतीत होता है । कल्पना कीजिए- आज आपने एक वस्त्र को लाल रंग से रंग दिया । रंगने के बाद थोड़ी देर के अनन्तर वस्त्र का आद्रभाव शुष्कावस्था में परिणत हो जाता है एवं सफेद एकदम लाल हो जाता है । इस लाल वस्त्र को १० दिन बाद देखा जाता है तो उसकी वह रौनक फीकी पड़ जाती है–जो कि रंगने से कुछ देर बाद में थी । इतना ही नहीं अपि तु, ६ महिने बाद यदि उस कपड़े के रंग पर दृष्टि डाली जाती है तो वह और भी फीका दिखलाई पड़ता है । इस पर प्रश्न होता है कि यह रंग किस समय ऐसे मटमैलेस्वरूप में परिणत हो गया । किस–समय किस क्षण में उसकी यह प्रतिभा नष्ट हो गई ? इसका उत्तर सिवाय "प्रतिक्षण में होने वाले परिवर्त्तन से ही कपड़े की यह अवस्था हो गई है"–इसके अतिरिक्त और दूसरा उत्तर हो ही नहीं सकता । एवमेव बाल, युवा, तरुण, प्रौढ, वृद्धादि अवस्थाओं से जो शरीर में परिवर्त्तन होता रहता है एवं इस परिवर्त्तन के साथ ही होने वाला जो अस्थि-मांस-रुधिर-मेदा-मज्जा-शुक्र इत्यादि शरीर-धातुओं का परिवर्त्तन है–इसे भी आपको क्षणिकावस्थायुक्त ही मानना पड़ेगा । एक हाथ का बच्चा, साढे तीन हाथ का बन गया–क्या यह किसी एक खास नियतक्षण में एकदम इतना लम्बा

बन गया ? हर्गिज नहीं। अपि तु, प्रतिक्षण में होने वाली जो परिवर्त्तनशीला क्रिया है–उसी से यह बच्चा बडा बन गया है। दूध दही बन गया–यहाँ भी उसी क्षणिकतत्त्व का आश्रय लेना पड़ेगा। दरवाजे पर शीशम की लकड़ी के किवाड़ चढाए जाते हैं। उस समय वे किवाड़ इतने मजबूत रहते हैं कि आप बल-प्रयोग करने पर भी उन्हें टस से मस नहीं कर सकते। परन्तु २०० वर्ष बाद आप उन किवाड़ों के किसी भी हिस्से को अपनी चुटकी से पकड़ कर मानिन्द गले खाद के आसानी से उठा सकते हैं। क्या यह परिवर्त्तन किसी एक नियतक्षण में हुआ है ? हर्गिज नहीं। निरन्तर होने वाले परिवर्त्तन के कारण ही इसकी आज यह अवस्था हो गई है। चूँकि यह परिवर्त्तन अतिसूक्ष्म है, अतएव हम इसे उसी समय आँखों से नहीं देख सकते। परन्तु जब वही स्थूलरूप में परिणत हो जाता है तो उसका प्रत्यक्ष होने लगता है। जिन्हें आप अपरिवर्त्तनीय समझ रहे हैं–विश्वास कीजिए–वह सारा प्रपञ्च परिवर्त्तनीय ही है।

पुरोवस्थित पर्वत प्रतिक्षण बदल रहा है। चूँकि आपकी आयु थोड़ी है, अतएव आप उस परिवर्त्तन के स्थूलरूप को नहीं देखते, इसीलिए आपको यह स्थिर मालूम होने लगता है। इस प्रकार जबकि संसार के यच्चयावत् पदार्थ प्रतिक्षण परिवर्त्तनशील हैं–तो फिर इसे **असत्** तत्त्व से क्योंकर बाहर किया जा सकता है। जगत् का मूल असत् है, इसमें सबसे दृढ प्रमाण "सारे पदार्थ क्षणिक हैं"–यही है। कदाचित् कहो कि यदि सारे पदार्थ क्षणिक हैं, असत् हैं, परिवर्त्तनशील हैं, विनाशी हैं–तो फिर हमें जगत् की प्रतीति क्योंकर हो रही है। जबकि हम प्रत्यक्ष में जगत् को **अस्ति-रूप** से देख रहे हैं, तो मानना पड़ेगा कि प्रतिक्षण में बदलने वाली इस क्रिया का कोई न कोई आधार अवश्य ही है एवं वह **सत्** है। अन्यथा केवल क्षणिकतत्त्व मान लेने से ही तो किसी भी वस्तु की प्रतीति नहीं होनी चाहिए। क्योंकि जबकि कोई सत् है ही नहीं–'है' कहकर व्यवहार करने लायक कोई **सत्ता** तत्त्व है ही नहीं तो फिर ऐसी हालत में संसार स्थित पदार्थों की प्रतीति ही नहीं होनी चाहिए। परन्तु प्रतीति होती है अवश्य है। घट है, पट है, मनुष्य है–इस अस्तित्त्व का अपलाप कथमपि नहीं किया जा सकता। क्रिया चूँकि

क्षणिक है, अतएव उसके लिए तो 'है' कथमपि नहीं कहा जा सकता। परन्तु 'है' यह प्रतीति आपामर आविद्वत्कुल दोनों के लिए साधारण है, अतएव बाध्य होकर असत्कर्म्म से अतिरिक्त कोई सत् पदार्थ अवश्य ही मानना चाहिए जो कि कर्म्म के प्रतिक्षण परिवर्त्तित होने पर भी पदार्थों का अस्ति-रूप से प्रत्यय करवा देता है।

इस पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए श्रमणकाचार्य कहते हैं–कर्म्म से अतिरिक्त किसी सत् पदार्थ के मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। कर्म्म को बल कहते हैं। ये बल पदार्थवैचित्र्य के कारण भिन्न-भिन्न जाति के मानने पड़ते हैं। इस प्रकार से बल अनन्तानन्त प्रकार के हो जाते हैं जो कि सत्-कार्यवादियों के लिए भी मान्य हैं। इन संख्यातीत बलों के १६ बलकोश होते हैं। इन १६ कोशों में से ये अनन्तानन्त बल प्रादुर्भूत होते रहते हैं। इन १६ बलकोशों में से एक बलकोश **धाराबल** नाम से प्रसिद्ध है। प्रतिक्षण परिवर्त्तनीय बल की समष्टिरूपेण प्रतीति करवा देना ही इस धाराबल का काम है। बल प्रतिक्षण ही बदलता रहता है–प्रतिक्षण ही नष्ट होता है, परन्तु, उन सारे बलों में जो कि प्रतिक्षण नष्ट हो रहे हैं–एक धारा नाम का अन्यतमबल अनुस्यूत रहता है–इसे ही संतान कहते हैं। इस धाराबल से ही जो कि आप स्वयं भी क्षणिक ही है–वह बल 'अस्ति', 'है', 'मौजूद' है–यह प्रत्यय करवा देता है। कदाचित् कहो कि जो स्वयं नहीं है–वह दूसरे की अस्ति क्योंकर करवा सकता है? इसके उत्तर में **कतकरज** का दृष्टान्त ही पर्य्याप्त होगा। कतकरज स्वयं मैल है। परन्तु खाण्ड में डालने से अथवा गुड़ की चाशनी में डालने से यह उस सारे मैल को दूर कर स्वयं हट जाता है। लोटे पर चढी हुई मिट्टी को मिट्टी उत्तार देती है। तथैव यद्यपि धारा-बल क्षणिक है तथापि कतकरजवत् यह **अस्ति** प्रत्यय करवा कर स्वयं विलीन हो जाता है।

इस प्रकार केवल **असत्** तत्त्व के मान लेने मात्र से ही काम चल जाता है, **अस्ति**–इस प्रत्यय की उपपत्ति धाराबल से ही हो जाती है तो फिर कर्म्म से पृथक् ब्रह्मतत्त्व मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। कदाचित् कहो कि खाता हूँ, सोता हूँ, पीता हूँ, चलता हूँ, पढता हूँ, दर्द हो रहा है,

मुझे भूख लग रही है–मैं यह काम नहीं करता, मैं कभी भी असत्य न बोलूंगा-इस प्रकार खाना, पीना-इत्यादि क्रियाओं से भिन्न जो 'मैं' है–जोकि 'अहं'–स्वरूप है–उसे तो अवश्य ही कर्म्म से पृथक् मानना पड़ेगा । मैं काम करता हूँ–इसमें काम करना कर्म्म है और मैं पृथक् है । मैं काम करता हूँ, न कि मैं ही काम हूँ । मैं कर्म्म करता हूँ–न कि मैं स्वय कर्म्म हूँ–इस प्रकार जब कर्म्म से पृथक् अहं की प्रतीति हो रही है तो फिर केवल 'कर्म्म' का ही अस्तित्व क्योंकर माना जा सकता है ? अतः क्रिया से पृथक्त्वेन भासित जो अहं है–जोकि दूसरे शब्दों में ब्रह्म कहा जाता है–ज्ञान कहा जाता है–उसे अवश्य ही मानना पड़ेगा । श्रमणक कहते हैं कि बिलकुल ठीक है । कौन कहता है कि 'अहं' और 'कार्य्य' एक चीज हैं ? दोनों वास्तव में भिन्न-भिन्न हैं । घड़ा भिन्न वस्तु है, मटकी भिन्न वस्तु है । तथैव **अहं करोमि** में **करोमि** भिन्न वस्तु है, अहं भिन्न वस्तु है । परन्तु यह सजातीय भिन्नता है, न कि विजातीय भिन्नता । घड़ा और मटकी में सजातीयभेद है । दोनों मिट्टी हैं, परन्तु घढ़ा भिन्नस्वरूप है, मटकी भिन्न स्वरूप है । ठीक इसी प्रकार अहं और कर्म्म दोनों कर्म्म ही हैं । परन्तु अहं भिन्न स्वरूपयुक्त है । कर्म्म भिन्न स्वरूप है । हमने अनन्त प्रकार के बल बतलाए हैं–उन्हीं बलों में से एक विशेष प्रकार की बल समष्टि ही 'ज्ञान' किंवा 'अहं' कहलाती है । ज्ञान भी एक प्रकार का कर्म्म ही है । कर्म्म ही धारा बल के कारण स्थिर प्रतीत होता हुआ 'अहं' बन जाता है । वस्तुतः कर्म्म से अतिरिक्त ज्ञान कोई भी नहीं है । सारा प्रपञ्च दृष्टनष्ट ही है । अपि च–ज्ञान साक्षात् कर्म्म ही है–इस का प्रत्यक्ष प्रमाण भी मौजूद है । खाना, पीना, चलना–इत्यादि क्रियाओं का अभिनय जैसे गच्छामि, पठामि, भुङ्क्ते, गच्छति–इन क्रियाओं से किया जाता है, तथैव ज्ञान का भी **जानामि**–इस क्रिया से अभिनय होता है । जैसे गच्छामि, है–तद्वत् जानामि है । ज्ञान में क्रिया का अभिनय है, अतएव ज्ञान को हम क्रिया विशेष ही कहने के लिए तय्यार हैं ।

इस क्रिया की कृति, व्यापार, भाव और कर्म्म–ये चार अवस्थाएँ होती हैं । शरीर के अन्दर होने वाला जो प्राणव्यापार है, जो कि कोशिश कहलाती

है–जिसे कि चेष्टा कहते हैं–वही **कृति** है। इसका आँखों से प्रत्यक्ष नहीं होता, अतएव इस कृति को **अन्तर्व्यापार** कहा जाता है। तदनन्तर उस कृत से कोशिश से पैर उठने लगता है। हमें रामनिवास बाग में जाने की इच्छा होते ही कृति होती है–चेष्टा होती है। चेष्टा के अनन्तर ही वह चेष्टा बहिर्व्यापार में परिणत हो जाती है, अर्थात् पैर उठने लगता है। बस, यही क्रिया की दूसरी अवस्था है–इसे ही बहिर्व्यापार कहते हैं। यह क्रिया क्षणिका है–गुणभूता है। इस गुणभूता क्रिया का जो समुच्चय है–वही भाव कहलाता है। व्यापार क्षणिक क्रिया है। भाव क्षणिक क्रियाकूट है। गमनम्, ज्वलनम्, पठनम्–इत्यादि क्रियाएँ भाव कहलाती हैं। इसमें क्रिया का सिलसिला जारी रहता है। इसी अभिप्राय से अभियुक्त कहते हैं—

> **"गुणभूतैरवयवैः समूहक्रमजन्मनाम्।**
> **आश्रितः क्रमरूपत्वात् सा्क्रियेत्यभिधीयते"–इति ॥**

इस क्रिया के अनन्तर आत्मा में एक प्रकार का संस्कार पैदा हो जाता है। एक कर्म्म कर्म्मरूप है, एक कर्म्म ज्ञानस्वरूप है। कर्म्मरूप कर्म्म से वासना संस्कार उत्पन्न होता है एवं ज्ञानरूपकर्म्म से भावना संस्कार होता है। इसे ही चारित्र्याहित संस्कार भी कहते हैं एवं वासना संस्कार अनुभवाहित संस्कार कहलाता है। चूँकि यह संस्कार कर्म्मजन्य है, अतएव इसे भी **कर्म्म** ही कह दिया जाता है। इस प्रकार से क्रिया की कुल कृति, व्यापार, भाव, कर्म्म (संस्कार)–ये चार अवस्थाएँ होती हैं। इन चार में भाव अवस्था ही ज्ञानस्वरूप कर्म्मविशेष की स्थिरता की प्रयोजिका है। क्रिया समष्टि ही 'अहं' इस प्रतिष्ठितभाव को उत्पन्न कर देती है। क्रम जन्म के कारण स्थिरता प्रतीत होने लगती है। आया गया, आया गया–इस प्रावाहिक गति में होता हुआ भी विच्छेद नहीं दीखता, अतएव स्थिरता मालूम होने लगती है। चिराग की लौ पर दृष्टि डालिए। प्रतिक्षण तैल प्रकाशस्वरूप में परिणत होकर निकल रहा है और नीचे से प्रतिक्षण तैल आ रहा है। उस आने जाने की जो धारा है–वही लौ बन रही है। लौ स्थिर दिखलाई पड़ती है–इसका एकमात्र कारण **क्रिया-सन्तान है**। इस प्रकार

श्रमणक लोग केवल कर्म्म ही के उपासक हैं। कर्म्म से अलावा कोई आत्मा नहीं है। जो 'अहं' है—वह भी कर्म्म का ही पुद्गल है।

जिस प्रकार तेल के गमनागमन क्रिया के नष्ट होते ही दीप-निर्वाण हो जाता है, तथैव कर्म्मनाशात् उस कर्म्मरूप ज्ञानात्मा की मुक्ति हो जाती है। कर्म्म पुद्गल नाश ही का नाम **मुक्ति** है। केले के स्तम्ब को ऊपर से छीलते जाओ—उसकी वल्कल उखाड़ते जाओ। उखाड़ते-उखाड़ते अन्त में सारे केले का स्वरूप नष्ट हो जाएगा। केले में सिवाय वल्कल के और कुछ न मिलेगा। इसी प्रकार दीप-लौ को चारों ओर से छीलते जाओ। छीलते-छीलते सारी लौ गायबगुला हो जाएगी। उसके बीच में लौ के अतिरिक्त और कुछ न मिलेगा। तो जिस प्रकार **दीपक** प्रकाशसमष्टिमात्र से **दीपक** इस नाम को धारण कर लेता है एवं केले का वृक्ष केवल त्वक् समूह को लेकर **वृक्ष** कहलाने लगता है, तथैव कर्म्मसमष्टि ही **अहं** कहलाने लगती है। शरीर में जैसे अस्थिमांसादि भिन्न-भिन्न कर्म्म पुद्गल हैं, तथैव 'अहं' भी एक कर्म्मपुद्गलमात्र ही है। वस्तुतः केले के वृक्ष की तरह-दीप के लौ की तरह अस्थिमांसादि कर्म्मसमष्टि के अतिरिक्त जो कि समष्टि कर्म्मात्मिका है, शरीर से भिन्न अहंस्वरूप जीव नाम का कोई पदार्थ नहीं है। इनके मतानुसार यह असत्कर्म्म अपने आप ही जगत् बन जाता है एवं अपने आप ही अपने में ही ठहरा रहता है एवं अपने में अपने आप ही लीन हो जाता है। जैसे अंगुली अपने आप हिल पड़ती है। पलक उठते ही आँखें विना किसी की प्रेरणा के अपने आप ही देखने लगती हैं। कान अपने आप ही सुनने लगते हैं, तथैव यह असत्कर्म्म भी अपने आप ही अकस्मात् सृष्टिस्वरूप में परिणत हो जाता है। सृष्टिस्वरूप में परिणत होकर अपने आप में ही प्रतिष्ठित रहता है एवं अपने आप में ही विलीन हो जाता है। यह कर्म्म क्षणिक है, अतएव दुःखस्वरूप है। शून्य है, स्वलक्षण है सारा संसार दुःखमय है। दुःख का शब्दार्थ है—दुष्ट आकाश। दुष्ट अर्थात् शान्ति अभावस्वरूप जो आकाश है—उसे ही दुःख कहते हैं। शान्ति का नाम सुख है। क्षोभ का नाम हलचल है—इसी का नाम भय है। यही दुःख का मूल है।

शरीर के यच्चयावत् परमाणु परिवर्त्तनशील हैं। पुर्जा-पुर्जा सर्वात्मना बदल रहा है। क्रिया की–उत्पत्ति, स्थिति, लय–ये तीन अवस्थाएँ होती हैं। पहले क्षण में क्रिया उत्पन्न होती है, दूसरे में स्थिति रहती है एवं तीसरे में विलीन हो जाती है। तीनों में बीच का एक क्षण तो अस्तित्व के कारण सत्-रूप है–फिर जगत् को एकान्ततः असत् क्यों बतलाया जाता है ? इस भ्रम में नहीं पड़ जाना चाहिए, क्योंकि स्थितिक्षण भी नष्ट होता हुआ ही अपने उस एक क्षण को पूरा करता है। वह स्थिति बदलती हुई ही रहती है। अस्तित्व तो उसका कथमपि नहीं हो सकता। **अस्ति** का नाम प्रतिष्ठा है। प्रतिष्ठा का नाम अक्षोभ है। अक्षोभ ही शान्ति है। चूँकि क्रियामय जगत् नास्ति है, अतएव अप्रतिष्ठित है, अतएव क्षुब्ध है, अतएव अशान्त है, अतएव **दुःखम्-दुःखम्** है। कर्म्ममय उस अहं को क्षणिकत्वेन एक क्षणमात्र भी चैन नहीं है। एक बैल को रस्सी से पकड़ कर ले जाइए। यदि उसे एक क्षण भी रास्ते में नहीं ठहराया जाता है एवं अनवरत कोल्हू में पेला जाता है तो उसे जरा भी शान्ति नहीं मिल सकती। बस, ठीक वही हालत कर्म्ममय आत्मा का है। मुँह पर अनवरत पानी की धार पड़ते रहने से जैसे मनुष्य का श्वास रुक जाता है एवं त्राहि-त्राहि किया करता है तथैव इस कर्म्म-चक्र के क्षणिक-भाव के आक्रमण से कर्म्ममय आत्मा कभी सुखी नहीं हो सकता है।

आत्मा ही का सारा कर्म्म-प्रपञ्च तन्मय सारा विश्व ही 'दुःखम्' दुःखम् है। कर्म्म चूँकि असत् है अर्थात्–कुछ नहीं है। कर्म्म का अर्थात् क्रिया का आदि असत् है–अन्त असत् है, अतः मध्य भी असत् है। उपक्रम में अव्यक्त है एवं उपसंहार में अव्यक्त है। मध्य का व्यक्त भी अव्यक्तता को लिए हुए है, अतएव तीनों ही कुछ नहीं हैं, अतएव क्रियामय जगत् **शून्यं-शून्यं** है। एवमेव सारा जगत् स्वलक्षण है। यह उसके जैसा है। यह जगत् वैसा है–इत्यादि व्यवहार सर्वथा अनुपपन्न है। क्योंकि जबकि क्रिया क्षणिक है तो उसकी दूसरों के साथ तुलना करने का मौका आ ही कैसे सकता है ? सारी क्रियाएँ क्षणिकत्वेन सर्वथा भिन्न हैं। एक क्रिया की दूसरी क्रिया से तुलना हो ही नहीं सकती। यदि क्रिया स्थिर होती तो एक की दूसरी से तुलना हो सकती थी ? क्रिया मयजगत् पर लक्षण बन सकता था, परन्तु क्रिया तो

क्षणिक है, अतएव पूर्व क्रिया की उत्तर क्रिया से जब तक तुलना करें इतने में ही वह पूर्व क्रिया गायबगुल्ला हो जाती है–ऐसी अवस्था में तुलना किसकी किसके साथ की जाए ? अतएव हम इसे **स्वलक्षण** कहने के लिए तय्यार हैं। क्रिया का लक्षण क्रिया आप ही है। प्रत्येक क्रिया-लक्षण वही क्रिया है। क्रिया सर्वथा अद्वितीया है। बस, 'स्वलक्षणं' का वही तात्पर्य्य है। इस श्रमणक मत का जिसे कि हम **असद्वाद** कहेंगे, श्रुति में उल्लेख मिलता है—

"असदेवेदमग्र आसीत्" ।[1]

"तम आसीत्तमसा गूढमग्रे" ।[2]

"नैवेह किञ्चनाग्र आसीत्" ।[3]

–इत्यादि श्रुतियाँ पूर्वोक्त श्रमणकमत को पुष्ट करती हैं। इन असद्वादियों के मत में न ईश्वर है, न ज्ञान है, न जीव है, है तो केवल कर्म्म ही है। इस श्रमणकमतमूलक ही भारतीय नास्तिकदर्शन है। भारतीय नास्तिकदर्शन का मूल वही असद्वाद है। वैदिककाल के अनन्तर इस असद्वाद के प्रचार का श्रेय **शाक्यसिंह** को है। शाक्यसिंह **कपिलवस्तु** (नाम की नगरी) में रहते थे। इनके पिता का नाम नाम शुद्धोदन था। माता का नाममाया था। पुत्र का नाम **राहुल** था। यह शाक्यसिंह स्वभाव से ही दयालु थे। इन्हें कितनी ही ऐसी घटनाओं का सामना करना पड़ा जिससे इनका हृदय विचलित हो गया। इनकी दृष्टि में सारा राजपाट सूना जचने लगा। एक दिन मौका पाकर अर्द्धरात्रि को पत्नी और पुत्र को छोडकर ये राजमहल से निकल पड़े। निकलकर शास्त्रों का अध्ययन किया। परन्तु इससे भी इनके संतप्त आत्मा को शान्ति न मिली, अतएव सब कुछ छोड-छाडकर यह तपश्चर्या के लिए सीधे

---

१ तै० ब्रा० २।२।५।   २ ऋग्वेद मं० १०।१२९।३।
३ बृहद० आ० उप० १।२।१।

गिरनार पहाड़ पर पहुँचे। वह राजधानी उस समय **गिरिव्रज** नाम से प्रसिद्ध थी। वहीं पर शाक्यसिंह ने तप करना प्रारम्भ किया। बस, तभी से यह **शाक्यमुनि** कहलाने लगे। परन्तु इस तपश्चर्या से भी इन्हें शान्ति न मिली, अतः उस स्थान को छोडकर ये 'गया' में आए और एक वृक्ष के नीचे बैठकर विचार करने लगे कि अब किस प्रकार आत्मा को शान्ति पहुँचानी चाहिए। आखिर उनको सारा झगड़ा झूंठा मालूम हुआ और उनके मुँह से सहसा **बुद्धम्-बुद्धम्**—यह निकल पड़ा। सब जान लिया, सब समझ लिया—इन झगड़ों में कुछ नहीं रखा है—यही 'बुद्धम्' का तात्पर्य्य है। बस, तभी से ये **बुद्ध** कहलाने लग गए एवं जिस वृक्ष के नीचे बैठकर इन्होंने 'बुद्धम्-बुद्धम्' कहा था—वही **वृक्ष बोधिवृक्ष** नाम से प्रसिद्ध हुआ।

इसी बोद्धमत की आगे जाकर चार शाखाएँ हुई—जिनके कि प्रवर्त्तक माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक, वैभाषिक—इन नामों से प्रसिद्ध हुए। अस्तु, इसके विषय में हमें प्रकृत में कुछ नहीं कहना। कहना है केवल श्रमणकों के विषय में। श्रमणलोग कर्म्म को ही मानते हैं एवं ज्ञानस्वरूप ब्रह्म का कर्म्म में ही अन्तर्भाव करते हैं। उनके मतानुसार कर्म्म अपने आप उठ जाता है। अपने आप शान्त हो जाता है। कर्म्ममय जगत् दुःखस्वरूप है, शून्य है, क्षणिक है, स्वलक्षण है। इसी श्रमणक मत का स्वरूप बतलाते हुए भाष्यकार कहते हैं—

"तयोरपि ब्रह्मकर्म्मणोः कर्म्मैव तत्त्वमिति श्रमणा आतिष्टन्ते। तथा हि-कर्म्मैवेदं सर्वं पश्यामः। न ब्रह्म नामातिरिच्यते कश्चिदर्थः। ब्रह्म हि ज्ञानमाहुः। तच्चेदं ज्ञानं कर्म्मविशेषः संभाव्यते। जानामि न जानामीत्येव-मितरक्रियासाधारण्येनाभिनयात्। तदिदं कर्म्म स्वयमकस्मादुत्तिष्ठते। स्वस्मिन् प्रतितिष्ठति। स्वत एव च संतिष्टते। दुःखं चेदं क्षणिकं स्वलक्षणं शून्यं चेति श्रमणकानां सिद्धान्तः" ।। इति असद्वादः ।। ३ ।।

इस प्रकार श्रम के उपासक अतएव श्रमणक नाम से प्रसिद्ध असद्वादी ब्रह्म और कर्म्म दोनों में से केवल कर्म्म को ही सच्चा मानते हैं। परन्तु यह बात ब्रह्मोपासक अतएव ब्राह्मण नाम से प्रसिद्ध तत्त्वज्ञलोग सहन नहीं करते।

उनका कहना है कि सच्चा केवल ब्रह्म है। जगत् कुछ भी नहीं है। ये लोग सारे जगत् को सत् ही मानते हैं। इन लोगों का कहना है कि यदि जगत् को असत् माना जाएगा तो जगत् का प्रत्यक्ष ही नहीं होगा, जबकि प्रत्यक्ष में घट है, पट है, मनुष्य है, हाथी है, घोड़ा है। यहाँ पर अस्तिस्वरूप का सत् तत्त्व का प्रत्यक्ष दर्शन कर रहे हैं तो फिर प्रत्यक्षदृष्ट अस्तित्व का अपलाप करके नास्तिवाद क्योंकर कायम किया जा सकता है ? तुमने कहा था कि अस्तिप्रतीति तो धाराबल से हो जाती है–परन्तु हम कहते हैं धाराबल भी तो बल ही है। भला, जो स्वयं क्षणिक है–विनाशी है–वह अस्तित्व का प्रवर्त्तक क्योंकर माना जा सकता है ?

जिस प्रकार एक अन्धा मनुष्य दूसरे अन्धे मनुष्य को मार्ग दिखलाने में सर्वथा असमर्थ है तथैव धाराबल जो कि क्षणिक नष्ट होने के कारण स्वयं नष्टप्राय है–नष्ट होने वाली क्रियासमष्टि का प्रत्यक्ष क्योंकर करवा सकता है ? अतः असत् से अलावा एक सत् तत्त्व अवश्य ही मानना पड़ेगा। इतना ही नहीं, जिसे आप कर्म्म-कर्म्म कहकर पुकारते फिरते हैं–उसका हमारे ज्ञान में ही अन्तर्भाव है। हँसने का भी ज्ञान है। बोलने का भी ज्ञान है। चलने का भी ज्ञान है। तुम कहते हो–सर्वत्र कर्म्म ही कर्म्म दिखलाई पड़ता है, हम कहते हैं–सर्वत्र ज्ञान ही ज्ञान है। घट-पट इत्यादि को तुम कर्म्म बतलाते हो। हम कहते हैं–अयं घटः, अयं पटः–यह सब ज्ञान ही ज्ञान है। जो कुछ है एवं नहीं है–वह भी ज्ञान ही है। घड़ा है–यह भी ज्ञान ही है। घड़ा नहीं है–यह भी ज्ञान ही है। जो कुछ है–सब मेरा ख़याल ही ख़याल है। सूर्य्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, वन, उपवन, मनुष्य, पशु, पक्षी, कृमि, कीट–इत्यादि-इत्यादि जो ज्ञेय पदार्थ हैं–जिन्हें कि आप कर्म्म कहते हैं–सब ज्ञान है। सब मेरे ज्ञान की तस्वीर बनी हुई हैं। मैं ही सब कुछ बना हुआ हूँ। 'अहं'–यह ज्ञान ही ज्ञेय बना हुआ है। सारा प्रपञ्च ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय–इन तीन भागों में विभक्त है। **घटमहं जानामि**–मैं घड़े को जानता हूँ–इस प्रत्यक्ष में 'अहं'–यह ज्ञाता है। 'घटम्' ज्ञेय है। 'जानामि' ज्ञान है। तीनों की जो समष्टि है वही **घटज्ञान** है। प्रत्येक वस्तु के ज्ञान में ये तीनों अपेक्षित हैं। जानने वाला और जानने की वस्तु एवं दोनों का सम्बन्ध, जब तीनों का समन्वय होता

है–तब प्रत्यय का स्वरूप बनता है । ये ही तीनों प्रमाता, प्रमेय, प्रमिति–इन नामों से व्यवहृत होते हैं । प्रमाता 'ग्रहं' है–यही ज्ञाता है । प्रमेय जगत् है । प्रमिति ज्ञान है । प्रमाता ही प्रमिति बनता है एवं प्रमिति अर्थात्–ज्ञान ही प्रमेय (ज्ञेय) जगत् बनता है । तीनों एक ही वस्तु हैं । ज्ञाता तो ज्ञाता है ही एवं ज्ञान और ज्ञेय भी ज्ञाता ही हैं । बस, प्रकृत में इन तीनों का अभेदमात्र बतलाना है । यदि ज्ञाता ही ज्ञान बना हुआ है–ज्ञान ही ज्ञेय बना हुग्रा है–यह बात सिद्ध हो जाएगी तो श्रमणकों का असद्वाद अपने आप खण्डित हो जाएगा ।

सर्वप्रथम हम प्रमाता और प्रमिति का ही अभेद बतलाते हैं । प्रमिति ज्ञान का नाम है–यह विकासरूपा है । आँख खोलने के साथ ही जिस आत्म-ज्योति में सारा जगत् भासित होने लगता है–वही ज्ञान है । हृदय में बैठा हुआ जो ज्ञानकन्दल है–वही ज्ञाता है एवं उसमें से चारों और निकलने वाली जो रश्मियाँ हैं–वही ज्ञान है । ज्ञाता बिम्ब है । ज्ञान रश्मियाँ हैं । पांखुरी से ही पुष्प निकलता है । निकलता क्या है–वही विकास को प्राप्त होकर 'पुष्प' कहलाने लगती है । ज्ञान प्रकाशस्वरूप है । हमारे में से चारों ओर वितत होने वाला जो एक प्रकाश है–ज्ञानज्योति है–उसका कोई न कोई केन्द्र अवश्य ही मानना पड़ेगा । जहाँ से कि यह प्रकाश निकलकर चारों और फैल रहा है । अर्क बिना उक्थ के कथमपि नहीं रह सकता । ज्ञान अर्कस्वरूप है, अतएव उसका कोई न कोई उक्थ अवश्य ही मानना पड़ता है । बस, इस ज्ञानप्रकाश का जो उक्थ है–वही ज्ञाता है । बस, यह ज्ञानज्योति उसी केन्द्रस्थ ज्ञानकन्दल में से निकलकर बाहर फैल रही है । नाभिगत ज्योतिःपुञ्ज आत्मा है–यही ज्ञाता है । इससे जो रश्मिरूप से चारों ओर फैलता हुआ प्रकाश निकलता है–वही **ज्ञान** है । ज्योति आग्नेय पदार्थ है । अग्नि स्वभाव ही से ग्रपनी चित्य और चितेनिधेय–ये दो संस्था कायम करता है । इन्हीं दोनों को वैदिक-परिभाषा में अन्तःपृष्ठ और बहिःपृष्ठ–इन नामों से व्यवहृत किया जाता है । पिण्ड अन्तःपृष्ठ कहलाता है एवं पिण्ड में से निकलकर चारों ओर वितत होने वाला संस्थामण्डल बहिःपृष्ठ कहलाता है ।

अग्नि को ज्योतिमात्र का उपलक्षण समझना चाहिए । सूर्य्य को पिण्ड समझिए–यही अन्त:पृष्ठ है एवं सूर्य्य से निकलकर चारों ओर वितत होने वाला जो मण्डल है–वही बहि:पृष्ठ है । इस प्रकाशमण्डल के–सोलर सिस्टम के केन्द्र में सूर्य्य है । यही नभ्य आत्मा है–यही प्रजापति है एवं प्रकाशमण्डल इसकी रश्मियाँ हैं । ठीक इसी प्रकार केन्द्रस्थित ज्ञानज्योति:पुञ्ज आत्मा है–वही प्रजापति है–वही ज्ञाता है–वही प्रमाता है एवं उससे बाहर निकलकर आसमन्तात् व्याप्त होने वाला ज्योतिमण्डल ज्ञान है–वही प्रमिति है । जैसे सूर्य्य और सूर्य्यप्रकाश कहने को दो हैं–वस्तुत: दोनों एक हैं । तथैव ज्ञाता और ज्ञान कहने को दो हैं–वस्तुत: दोनों एक हैं । इस प्रकार ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय तीनों में से ज्ञाता और ज्ञान की तो अभिन्नता सिद्ध हो चुकी है । अब बाकी बचता है–ज्ञेय जगत् । इसी पर विवाद है । ज्ञान में भासित होने वाले घट पटादि ज्ञान से ही बने हुए हैं अथवा विजातीय हैं । इस ज्ञान-ज्ञेय के आधारा-धेय-भाव सम्बद्ध में दो सम्प्रतिपत्तियाँ हो सकती हैं ।

टेबल पर पुस्तक रखी हुई है । पुस्तक आधेय है–टेबल आधार है । दोनों में आधाराधेयभाव है–परन्तु पुस्तक की अपनी सत्ता पृथक् है–टेबिल की अपनी सत्ता पृथक् है । यही पहला आधाराधेयभाव है । इसे भिन्नसत्ताक आधाराधेयभाव कहा जाता है । जिस प्रकार आधाराधेयभाव होने पर भी पुस्तक अपनी सत्ता टेबिल से पृथक् रखती है–तद्वत् ज्ञान से उत्पन्न होने वाले ज्ञेय घटादि पृथक् सत्ता को लेकर ही उत्पन्न होते हैं । पुस्तक टेबल का उदाहरण यहाँ पर ठीक न होगा । क्योंकि ज्ञान-ज्ञेय में उपादान कार्य्यकारण-भाव है एवं पुस्तक टेबिल में उपादान नहीं, निमित्त कार्य्यकारण-भाव है, अत: ज्ञान-ज्ञेय के उपादान कार्य्यकारण-भाव में टेबिल पुस्तक का दृष्टान्त ठीक नहीं हो सकता । इसका दृष्टान्त है–पिता-पुत्र । पुत्र पिता के अंश से उत्पन्न होता है, परन्तु उत्पन्न होते ही उसकी सत्ता पिता से पृथक् हो जाती है । चाहे अब पिता मर जाए, परन्तु फिर भी कार्य्यस्वरूप पुत्र का कुछ नहीं बिगड़ सकता, क्योंकि पुत्र की सत्ता पिता से पृथक् है । तद्वत् ही ज्ञान से ज्ञेय पृथक् सत्ता को लेकर ही उत्पन्न हुआ है । ज्ञान-ज्ञेय के आधार का पहला यह सम्बन्ध हो सकता है । अथवा जैसे दूध-दही बन जाता है–तद्वत् यह ज्ञान

घट बना हुआ है–यह बात भी ज्ञान-ज्ञेय के विषय में हो सकती है। तन्तु ही वस्त्र बन गया है। मिट्टी ही घटरूप में परिणत हो गई है। घट और वस्त्र की सत्ता पुत्रवत् पृथक् सत्ता नहीं है। तन्तु-सत्ता से वस्त्रसत् कहलाता है। यदि वस्त्र में से तन्तु निकाल दिए जाएँ तो वस्त्र का पता भी न लगे। तद्वत् ही ज्ञान से उत्पन्न होने वाले ज्ञेय जगत् की सत्ता ज्ञान से पृथक् नहीं मानी जा सकती। ज्ञान ही से विषय उत्पन्न होते हैं–ज्ञान ही पर प्रतिष्ठित रहते हैं, अन्त में ज्ञान में ही विलीन हो जाते हैं। पहले के कार्य्यकारणभाव में ज्ञान अंशात्मना ज्ञेय बना हुआ था, परन्तु इस दूसरे कार्य्यकारण-भाव में जैसे सारा दूध-दही बना हुआ है–तद्वत् सारा ज्ञान घट बना हुआ है, अतएव एककालावच्छेदेन एक ही वस्तु का ज्ञान होता है।

कहना सारे प्रपञ्च से यही है कि ज्ञान ही ज्ञेय बना हुआ है। जब ज्ञान ही ज्ञेय बना हुआ है–यह सिद्ध हो जाता है तो फिर विषयरूप जगत् को ज्ञान से पृथक् क्योंकर निकाला जा सकता है? जिस प्रकार मिट्टी से बना हुआ घट मिट्टी से पृथक् मालूम होने लगता है तथैव ज्ञाननिर्म्मित ज्ञेयजगत् पृथक् मालूम होने लगता है। अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्य, विषयावच्छिन्नचैतन्य एवं अन्तःकरणवृत्यवच्छिन्नचैतन्य–इन तीनों के मेल से प्रत्यय का स्वरूप बनता है। प्रत्यय त्रिवृत्कृत होता है, अतएव उसमें ज्ञेय पृथक् दिखलाई देने लगता है। वस्तुतः यदि विज्ञानदृष्टया विचार किया जाए तो सब ज्ञान ही ज्ञान है। ज्ञान से अलावा कुछ भी नहीं है। तुम कहते हो–ज्ञेय ज्ञान से पृथक् प्रतीत होता है, हम कहते हैं भाई! यह प्रतीति भी तो ज्ञान ही है। ज्ञान से अलावा कर्म्म बच कैसे सकता है? ज्ञान ही को ब्रह्म कहते हैं–वही सर्वत्र व्याप्त है, अतएव हम निःसंदिग्धरूपेण–**पूर्णं ब्रह्मैवेदं सर्वम्**–यह कहने के लिए तय्यार हैं।

तुम कहते हो शून्यं-शून्यं, हम कहते हैं–पूर्णम्-पूर्णम्। तुम कहते हो कर्म्म ही कर्म्म है। हम कहते हैं–ज्ञान ही ज्ञान है। ब्रह्म ही ब्रह्म है। इसी अभिप्राय से भाष्यकार कहते हैं—

"अथैते ब्राह्मणास्त्वाहुः। ब्रह्मैवेदं सर्वं ज्ञानमेव। यदयं घटः पट इति प्रतीमः। यदिदमस्ति नास्तीति प्रतीमः–सर्वोऽप्येष नः प्रत्ययः। तज्ज्ञानम्।

तच्च ज्ञाता, ज्ञानं, ज्ञेयमिति त्रिवृत्कृतं रूपं भवतीति ज्ञानात् पृथग् विज्ञेयं प्रतीयते। सैषा प्रतिपत्तिर्ज्ञानमेव न ज्ञानात् कर्मातिरिच्यते। ज्ञानं तु ब्रह्म। तस्मात् 'पूर्णं ब्रह्मैवेदं सर्वम्'–इति ब्रूमः" ॥

यह तो हुई शास्त्रीयचर्चा–तर्कवाद। अब जरा **अनुभव** की ओर भी झुकना चाहिए–देखें अनुभव क्या कहता है? जो लोग क्षणिककर्म्म ही को सर्वेसर्वा मानते हैं–उनके इस क्षणिकतत्त्व पर कभी भी विश्वास नहीं करना चाहिए। क्योंकि कर्म्म क्षणिक है–ऐसा कर्म्म जगत् का मूल होगा–यह अनुभव विरुद्ध है। क्रिया परिवर्त्तनशीला है। वह हरवक्त बदलती रहती है। यह परिवर्त्तन विना अपरिवर्त्तनीय आधार के सर्वथा अनुपपन्न है। हम तुह्मारे (असद्वादी) कथनानुसार मानते हैं कि रंग प्रतिक्षण बदलता रहता है। हम मानते हैं कि शरीर के पुर्जे-पुर्जे बदल रहे हैं। परन्तु वस्त्र है तभी तो रंग का परिवर्त्तन होता है। शरीर है तभी तो अवस्था परिवर्त्तन होता है। खूंटी है तब कपड़ा टाँका जाता है। जमीन है तब गति होती है। मुँह है तब चर्वणक्रिया होती है, अतएव मानना पड़ता है कि प्रतिक्षण परिवर्त्तन-शीला क्रिया के साथ ही एक अस्तितत्त्व बैठा हुआ है। अपि च–तुह्मारे हिसाब से कर्म्म सर्वथा असत् है, जड़ है। हम कहते हैं ऐसा कर्म्म अपने आप अकस्मात् उठ गया और विलीन हो गया–यह बात भी सर्वथा अनुभव विरुद्ध है। हम गहरी नींद में सोते रहते हैं, परन्तु प्रातःकाल अपने आप जग पड़ते हैं। हम पूछते हैं तो जागृतिरूपा क्रिया सुप्तावस्था में लीन हो गई थी–उसे प्रातःकाल किसने जगाया? किसने उद्बुद्ध किया? अपने आप ही हो गई–यह बात सर्वथा विरुद्ध है।

संसार में ऐसा कोई भी कार्य्य नहीं है–जो कि विना कारण के उत्पन्न हो। यदि कर्म्म उठ गया तो फिर उसे उठे ही रहना चाहिए एवं विलीन हो गया तो विलीन ही रहना चाहिए। अपि च–आप संसार में ऐसा कोई भी दृष्टान्त नहीं बतला सकते जहाँ पर कि कर्म्म निराधार होता है। प्रत्येक कर्म्म आधार को लेकर ही उत्पन्न होता है, अतएव युक्तिविरोधात्, शास्त्र-विरोधात्, अनुभवविरोधात् आपका असद्वाद कथमपि प्रतिष्ठित नहीं रह

सकता, अतएव आपको केवल ब्रह्मवाद का ही–सद्वाद का ही आश्रय लेना चाहिए। कर्म्म कोई वस्तु नहीं है। सब ज्ञान ही ज्ञान है। ब्रह्म ही ब्रह्म है। सत् के अलावा असत् कोई चीज नहीं है। हमें हँसी आती है–उन असद्-वादियों के भोलेपन पर जो कि जगत् को असत् मानते हुए उसका प्रतिपादन करते हैं। उसके लिए पुस्तकें लिखते हैं। हम कहते हैं–भाई ! जब सब असत् है तब तुह्मारा **सारा जगत् असत् है**–यह कहना भी असत् ही है। तुह्मारी पुस्तकें भी असत् है। तुम भी असत् हो। तुह्मारा कहना भी असत् है। तुम तो कुछ हो ही नहीं, फिर तुह्मारा मत कैसा ? अतः तुम्हें विवश होकर उसी ब्रह्म की शरण में आना पड़ेगा–जिसके कि अलावा और कुछ भी नहीं है। इसी अभिप्राय से भाष्यकार कहते हैं।

"यत्तु कर्म्मैवेदं शून्यं सर्वं न तु पूर्णं ब्रह्मेत्याहुस्तन्न तथा प्रतीयात्। न हीदमसद्रूपं कर्म्माकस्मादुत्थातुं शक्नोति। उत्थितं वा नाकस्माद्विलीयेत, न च कश्चन दृष्टान्तोऽस्ति—यत्रेदमनाश्रयं निराधारं प्रतिष्ठितं कर्म्म दृष्टं स्यादिति" ॥

इस प्रकार कितने ही दार्शनिक कर्म्ममय असद् जगत् का, ज्ञेय जगत् का, इसी ब्रह्म में अन्तर्भाव करके केवल ब्रह्म ही मानते हैं–**"इत्थं ब्रह्मैकान्तिकं कर्म्मैकान्तिकं वा मतद्वयं पृथगिवातिष्ठन्ते"। इति सद्वादः ॥४॥**

परन्तु जो पूर्णतत्त्वज्ञ हैं, वैज्ञानिक हैं–वे न केवल ब्रह्म मानते और न केवल कर्म्म मानते अपि तु, दोनों को मानते हैं। वे ब्रह्म और कर्म्म दोनों के उपासक हैं। उनका अभिप्राय यही है कि हम जगत् में दो भावों का प्रत्यक्ष दर्शन कर रहे हैं। एक ऐसा है जो कभी नहीं बदलता एवं एक ऐसा है जो हरवक्त बदलता रहता है। घट, पट, पुस्तक, मकान–इत्यादि-इत्यादि यच्चयावत् पदार्थ असद्वादी के कथनानुसार अवश्य ही प्रतिक्षण बदलते रहते हैं, अतएव मानना पड़ता है कि यह बदलने वाली वस्तु ब्रह्म नहीं हो सकती। क्योंकि ब्रह्म नित्य है, शान्त है, एक है, दिग्देशकाल से अपरिच्छिन्न है। परन्तु यह क्रियामय जगत् अनन्त हैं। क्रियाएँ अनन्ता हैं, परिच्छिन्ना हैं। ये सर्वथा विजातीय हैं, अतएव इन्हें ब्रह्म में शामिल नहीं किया जा सकता

एवं साथ ही में ये कुछ नहीं हैं–यह भी नहीं कहा जा सकता–जबकि इस परिवर्त्तन के प्रत्यक्ष दर्शन हो रहे हैं।

इस परिवर्त्तन के साथ-साथ ही हम एक अपरिवर्त्तनीयभाव के भी दर्शन करते जा रहे हैं। उदाहरणार्थ एक पुस्तक पर दृष्टि डालिए। पुस्तक का जर्रा-जर्रा बदल रहा है, परन्तु पुस्तक कल भी थी, आज भी है, कल भी रहेगी। यदि पुस्तक नष्ट हो गई तो मिट्टी है। मिट्टी भी न रही तो पानी है। पानी भी न रहा तो वायु है। वायु भी न रहा तो आकाश है। आकाश भी न रहा तो प्राण है। प्राण भी न रहा तो मन है। मन भी न रहा तो **'नहीं है'**–वही है। नहीं है–इसमें भी तो **'है'** है। इस प्रकार परिवर्त्तन के साथ-साथ एक अपरिवर्त्तनीय-भाव भी प्रत्यक्ष अनुस्यूत देखा जाता है, अतएव आपको यह अस्तितत्त्व भी मानना पड़ेगा। गंगा का पानी प्रतिक्षण बदलता रहता है जो पानी पूर्वक्षण में था–उसका उत्तरक्षण में पता भी नहीं है। परन्तु १० वर्ष पहले जिसने स्नान किया था वह भी गंगास्नान का अभिमान करता है। आज स्नान करने वाला भी गङ्गास्नान का अभिमान करता है, अतएव आपको बाध्य होकर दोनों तत्त्वों को मानना पड़ेगा। एक ऐसा है जो हरवक्त बदलता ही रहता है दूसरा ऐसा है जो कभी नहीं बदलता। जो हरवक्त बदलता है–वह **कर्म्म** है। जो कभी नहीं बदलता है–वह ब्रह्म है। चूंकि जगत् में हम दोनों भावों के दर्शन करते हैं, अतएव हमें जगत् के मूल भी दो ही मानने पड़ते हैं। वे ही दोनों **'सत्'**, **'असत्'** नाम से प्रसिद्ध हैं। दोनों ही सनातन हैं–दोनों ही नित्य हैं एवं दोनों ही अविनाभूत हैं।

यह तो हुई अनुभव की बात अब शास्त्रीय प्रमाणों पर दृष्टि डालनी चाहिए। श्रुति के आम्रेडन करने पर सद्वाद, असद्वाद और सदसद्वाद (ब्रह्मवाद-कर्म्मवाद-ब्रह्मकर्म्मवाद)–ये तीनों मत मिलते हैं। तीनों प्रकार की श्रुतियाँ मिलती हैं। कितनी ही श्रुतियों से सद्वाद का ही प्रतिपादन होता है। कितनी ही श्रुतियाँ असद्वाद का प्रतिपादन करती हैं। कितनी ही सद-सद्वाद का प्रतिपादन करती हैं–उनमें से उदाहरण के लिए कुछ श्रुतियाँ उद्धृत की जाती हैं।

सत्-वाद का प्रतिपादन करती हुई श्रुति कहती है—

"असन्नेव स भवति असद्ब्रह्मेति वेद चेत् ।
अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनं ततो विदुः" ॥[१]

—श्रुति कहती है—यदि कोई मनुष्य ब्रह्म को असत् समझता है तो समझ लो वह स्वयं असत् है । जो कुछ नहीं को ही सब कुछ समझता है, समजो वह स्वयं कुछ नहीं है । अर्थात्—ऐसा असद्वादी भी कुछ नहीं है एवं उसका मत भी कुछ नहीं है । परन्तु जो—**ब्रह्म है**—यह मानता है अर्थात्—ब्रह्म का अस्तित्व स्वीकार करता है । विद्वान् लोग उसे **सन्त** (विद्यमान-प्रतिष्ठित) समझते हैं । **अस्ति** को—सत् को ही ब्रह्म समझना चाहिए—यही तात्पर्य्य है । अपि च—

"यो नः पिता जनिता यो विधाता यो नः सतो अभ्या सज्जजान—इति" ॥[२]

जो हमारा पिता है, जनिता है, विधाता है—जो हमारा कारण है वह सत् है । उस सत् की ओर ही अर्थात् सार से ही असत् पैदा किया है ।

अपि च—

सदेवेदमग्र आसीत् । कथमसतः सज्जायेतेति" ।[३]

सृष्टि के पहले मूलकारण सत् ही था । यदि जगत् का मूलकारण असत् माना जाएगा तो यह सृष्टि ही अनुपपन्न हो जाएगी । क्योंकि असत् से सत् क्योंकर पैदा हो सकता है ? जो स्वयं नहीं है—वह 'घटोऽस्ति', 'पटोऽस्ति' एवं विधसत्तास्वरूप जगत् को क्योंकर पैदा कर सकता है ? अतएव मानना पड़ता है कि जगत् का मूल **सत्** ही था ।

---

१ तैत्तिरीयोप० २।६।१ । २ तै० सं० ४।६।२।१ ।
३ छान्दोग्योप० ६।२१ ।

इस प्रकार पूर्व के श्रुतिवाक्यों का झुकाव सद्वाद की ओर ही प्रतीत होता है ।

निम्नलिखित श्रुतियों से शुद्ध असद्वाद ही प्रतिपादित किया जाता है । श्रुति कहती है--

"देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत" ।[1]

देवताओं के पूर्व युग में अर्थात् सृष्टि से पहले असत् से सत् पैदा हुआ है । घट-पट-मठ-सूर्य्य-चन्द्र-ग्रह-वन-उपवन-मनुष्य कृमि-कीट इत्यादि इत्यादि सारा प्रपञ्च सृष्टि के पहले **असत्** था । अर्थात्-न था । बात वास्तव में सच है । वास्तव में सृष्टि से पहले यह सब कुछ न था । सृष्टि के पहले की बात जाने दो । आज से पाँच हजार वर्ष पहले जो वृक्ष-मनुष्य न थे-वे आज हैं । असत् ही सत् बना हुआ है । सारा जगत् सृष्टि के पहले असत् था अर्थात्-न था वह आज सत् है, अर्थात्-मौजूद है । जैसे कुलालादि को घट के प्रति कारणता है तथैव प्रागभाव को भी कारणता है । जिस वस्तु का अभाव होता है-वही उत्पन्न होती है । न होने पर होना बनता है । बच्चा पहले न था इसलिए आज वह उत्पन्न होता है । यदि बच्चा पहले से ही रहता तो पैदा क्या होता ? जगत् पैदा होता है, अतएव इसका उत्पत्ति से पहले **अभाव** मानना पड़ता है । जो जगत् न था असत् था वही आज है, अतएव हम निःसंदिग्धरूपेण **असत् से सत् उत्पन्न हुआ**-यह कह सकते हैं । अपि च-**देवानां युगे प्रथमेऽसतः सदजायत**[2]-इस श्रुति का भी यही पूर्वोक्त अर्थ है--

अपि च-

"असद् वा इदमग्र आसीत् । ततो वै सदजायत" ।[3]

'इदं'-शब्दवाच्य जो यह सारा दृश्य जगत् है-वह सृष्टि के पहले असत् था अर्थात्-न था । उस असत् से यह सत् जगत् पैदा हुआ है ।

---

१ ऋग्वेद मं० १०।७२।२ । २ ऋग्वेद मं० १०।७२।३ ।
३ तैत्तियोप० २।७ ।

अपि च—

"इदं वा अग्रे नैव किञ्चनासीत् । न द्यौरासीन्न पृथिवी नान्तरिक्षम् । तदसदेवसन् मनोकुरुत स्यामिति" ।।

यह दृश्यजगत् सृष्ट से पहले कुछ न था । न द्यौ थी–न पृथिवी थी न अन्तरिक्ष था ।

इस प्रकार पूर्वोक्त श्रुतियाँ केवल असद्वाद का ही पोषण करती हैं । एवं

निम्नलिखित श्रुतियाँ सदसद्स्वरूप उभयवाद का प्रतिपादन करती हैं—

**"असद्वा इदमग्र आसीत् । तत् सदासीत् ।
तत् समभवत्"–इति ।।**[1]

सृष्टि के पहले यह सारा जगत् असत् था अर्थात्–दीखता न था, परन्तु सत् था । 'इदं' रूप से न था परन्तु था अवश्य ही । जो न था सोई था परन्तु इस शक्ल में न था जिस शक्ल में तुम आज देख रहे हो । इस स्वरूप में न था इसलिए तो असत् था एवं बीजरूप में था–इसलिए सत् था । जो वस्तु सर्वथा नहीं होती है–वह कभी भी नहीं हो सकती एवं जो है उसका नाश नहीं हो सकता । घास में दूध रहता है तभी तो गाय से दूध निकलता है। आज जिस दूध को तुम जिस स्वरूप में देख रहे हो वह दूध से पहले घास में इस रूप से न था । दूध ही था परन्तु घासरूप में था । वृक्ष न था परन्तु बीज था । यदि ऐसा नियम न हो, असत् से ही सत् उत्पन्न हो जाए तो फिर पानी से भी घृत निकलने लगे परन्तु नहीं निकलता, अतएव सदसत् अवस्था पर ही सदसत् का विश्राम मानना पड़ता है । जगत् असत् था–इसका तात्पर्य यही है कि इस रूप में न था । सत् था–इसका तात्पर्य यही है कि बीजरूप में था । बस, यह सत् और असत् दोनों परस्पर मिल गए उसी से यह सारा ब्रह्माण्ड उत्पन्न हुआ । अपि च—

---

१ शत० ब्रा० ६।१।१ ।

"सतश्च योनिमसतश्चविवः" ।
"सतो बन्धुमसति निरविन्दन्" ।[1]

इस प्रकार पूर्व के श्रुतिवाक्यों के पारस्परिक विरोध को हटाने के लिए **सदसद्वाद** का ही आश्रय लेना पड़ता है, अन्यथा श्रुति वचनों में परस्पर विरोध आता है। जो केवल सद्वाद ही मानते हैं उनके मत में असद्वाद और सदसद्वाद का प्रतिपादन करने वाली श्रुतियों का सामञ्जस्य होना कठिन हो जाता है एवं जो केवल असद्वाद ही मानता है–उन्हें सद्वाद और सदसद्वाद प्रतिपादक श्रौत-वाक्यों के साथ आँखमिचौनी करती पड़ती है। यदि इन वाक्यों का परस्पर सामञ्जस्य हो सकता है तो केवल सदसद्वाद को स्वीकार करने पर ही हो सकता है। सदसद्वाद मान लेने पर असद्वाद-प्रतिपादक श्रुतियों का सदंश में अन्तर्भाव हो जाता है एवं सद्वाद-प्रतिपादक श्रुतिवचनों का सदंश में अन्तर्भाव हो जाता है। इस प्रकार पूर्वोक्त सत्-असत् और सदसत् (ब्रह्म-कर्म्म-ब्रह्मकर्म्म) तीनों मतों का प्रतिपादन करने वाले श्रुतिवाक्यों के सामञ्जस्य के और किसी तरह से अनुपपन्न होने के कारण इन्हीं दोनों–सत् और असत् नाम के ब्रह्म और कर्म्म को जगत् का मूल मानना पड़ता है। इस प्रकार श्रौत प्रमाण से एवं अनुभव से उभयविधभावयुक्त विश्व का मूल उभयविधभावयुक्ता ब्रह्मकर्म्मसमष्टि ही माननी पड़ती है। भावद्वयोपेत विश्व का मूल न केवल ब्रह्म हो सकता, न कर्म्म हो सकता, अपि तु, दोनों ही मानने पड़ते हैं। इसी अभिप्राय से भाष्यकार कहते हैं—

"अथान्ये विद्वांसोऽनयोर्ब्रह्मकर्म्मणोर्द्वैतमेवातिष्ठन्ते। ब्रह्म च कर्म्म-चेत्युभे–एते सनातने विद्यात्। तथा हि। असन्नेव० इत्यादयः। तथा चैव-मादिश्रुतिवाक्यानां सामञ्जस्यान्यथानुपपत्त्या सदसतोरुभयोरेव तयोर्ब्रह्म-कर्म्मणोर्विश्वमूलत्वमवधारयामः" ॥

जिन ढूँढा तिन पाइया गहरे पानी पैठ–के अनुसार ज्यों-ज्यों अन्त-स्तल में प्रविष्ट होते जाते हैं–त्यों-त्यों इसी सदसद्वाद की पुष्टि होती जाती

1 ऋग्वेद मं० १०।२६।४।

है । भावद्वयोपेत विश्व के मूल ब्रह्म ग्रौर कर्म्म दोनों ही मानने पड़ते हैं । विश्व की कथा जाने दो । वह तो बहुत दूर का मार्ग है पहले विश्वान्तर्गत पदार्थों को ही टटोलो । विश्व के पदार्थों की ग्रोर ध्यान से देखने पर हम तो यही कहते हैं–कहते ही नहीं कहलवाना भी चाहते हैं कि संसार के यच्चयावत् पदार्थ विश्वान्तर्गत छोटी से छोटी वस्तु ग्रौर बडी से बडी वस्तु-सबमें ये ही दो तत्त्व नृत्य कर रहे हैं । एक तिल में भी ब्रह्म ग्रौर कर्म्म के दर्शन करते हैं । एक पर्वत में भी इन्हीं दोनों को पाते हैं एवं सारे विश्व में भी इन्हीं दोनों का दोर-दोरा देखते हैं । दर्शन क्या करते हैं ? वे ही पदार्थ हैं । तिल में ब्रह्मकर्म्म को नहीं देखते, पर्वत में ब्रह्मकर्म्म को नहीं देखते, ग्रपि तु, ब्रह्मकर्म्मसमुच्चय का नाम ही तिल है । ब्रह्मकर्म्मसमुच्चय का नाम ही पर्वत है । ब्रह्मकर्म्मसमुच्चय का नाम ही विश्व है । दोनों की मिलित ग्रवस्था का नाम ही **पदार्थ** है । जिसमें दोनों नहीं दूसरे शब्दों में जो दो नहीं, वह पदार्थ नहीं ग्रपदार्थ है । केवल ब्रह्म पद का भी कोई ग्रर्थ नहीं केवल कर्म्म पद का भी कोई ग्रर्थ नहीं । केवल ज्ञान भी कुछ नहीं, केवल क्रिया भी कुछ नहीं । 'है' तो दोनों की समष्टि–दोनों का समुच्चयस्वरूप पद ही ग्रपना कुछ ग्रर्थ रखता है, ग्रतएव हम **पदार्थ** उसे ही कहेगें जिसमें दोनों हों, जो दोनों की समष्टि हो । खाली कहना ही कहना नहीं है, वास्तव में यही बात है ।

ब्रह्म-इन्द्र-देवता-गन्धर्व-यज्ञ-ऋषि-मुनि-पितर-मनुष्य-वृक्ष-घास-कृमि-कीट-पशु-पक्षी-पर्वत-नदी-घट-वन-उपवन--दवात-कलम-पुस्तक-पत्र-कुर्ता--टोपी-कोट-छत्ता-पादत्राण-थाली-लोटा कहाँ तक गिनाएँ ग्राप को जो भी वस्तु ग्राँखों से दिखलाई पड़ती है वह प्रत्येक वस्तु ब्रह्मकर्म्म का समुच्चय है । वही ब्रह्म-कर्म्म व्यष्टि में है । वही समष्टि में है । ग्रयं घटः, ग्रयं पटः, ग्रयं मठः, ग्रयं मनुष्यः, ग्रयं पाषाणः, ग्रयं पशुः–इत्यादि-इत्यादि 'इदं' शब्दवाच्य जितने भी ग्रर्थ हैं, जितने भी पदार्थ हैं–उनमें से प्रत्येक पदार्थ ब्रह्म ग्रौर कर्म्म (ज्ञान ग्रौर क्रिया) की संहितामात्र है । प्रत्येक पदार्थ ब्रह्मकर्म्मात्मक है–चाहे वह छोटे से छोटा हो या बडे से बडा हो बस, इन्हीं ब्रह्म ग्रौर कर्म्म दोनों तत्त्वों को श्रुति में ग्रमृत ग्रौर मृत्यु शब्द से कहा है । ग्रमृत ग्रभय है

वही ब्रह्म है एवं मृत्यु का नाम ही कर्म्म है अथवा कर्म्म का नाम ही मृत्यु है। कर्म्म प्रतिक्षण बदलता रहता है। वह कुर्वद्रूपता में ही परिणत रहता है। उत्पत्ति-विनाश-उत्पत्ति-विनाश–बस, इसी तत्त्व का नाम कर्म्म है॥ उसकी एक मिनट भी जीवनसत्ता नहीं रहती। सदाविनश्यदवस्था में ही परिणत रहता है। सदा मरा हुआ ही रहता है, अतएव इस कर्म्म-तत्त्व को हम **मृत्यु** कहने के लिए तय्यार हैं एवं ठीक इसके विरुद्ध ब्रह्मतत्त्व कभी भी नहीं बदलता–वह सदा रहता ही है। वह अस्ति ब्रह्म कभी नास्ति की ओर झुकता ही नहीं। वह सदा रहता है। मृत्यु पाश से विमुक्त है॥ मृत्यु से विरुद्धधर्म्मा है, अतएव ब्रह्मतत्त्व को हम **अमृत** कहने के लिए तय्यार हैं। गीता में जहाँ-जहाँ अमृत-मृत्यु शब्द का उपपादन किया गया है, वहाँ-वहाँ अमृत-मृत्यु से ब्रह्मकर्म्म ही अभिप्रेत समझने चाहिए। क्योंकि ब्रह्म ही अमृत है, कर्म्म ही मृत्यु है। यह ब्रह्म और कर्म्म अर्थात्-अमृत और मृत्यु दोनों अविनाभूत रहते हैं। यदवच्छेदेन अमृत है तदवच्छेदेन मृत्यु है। कल्पना कर लीजिए–अंगुली चूँकि व्यावहारिकदृष्टया शान्त है, अतएव यह अमृत है। इस अंगुली में होने वाली जो **हिलना**–स्वरूप क्रिया है वही अमृत है। यह क्रिया इस अंगुली में जब तक सोती रहती है तब तक वह **बल** कहलाती है एवं कुर्वद्रूपता में क्रिया कहलाती है एवं रसपरित्यागसमय में कर्म्म कहलाती है। हम पूछते हैं–अंगुली हिलते समय जो एक क्रिया होती है वह अंगुली के किस स्थान पर बैठी थी–जहाँ पर से कि यह निकल रही है? इस प्रश्न का उत्तर यह यदवच्छेदेन अंगुली है, तदवच्छेदेनैव क्रिया है–इसके अलावा और उत्तर हो ही नहीं सकता। अमृत और मृत्यु दोनों को अविनाभूत ही मानना पड़ता है। बडा ही चमत्कार है। चीज दो हैं परन्तु जिस जगह पर ब्रह्म बैठा है उसी जगह पर क्रिया बैठी है। इसी अभिप्राय को लक्ष्य में रख कर वेद भगवान् कहते हैं—

"अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम्।
मृत्युर्विवस्वन्तं वस्ते मृत्योरात्मा विवस्वति" ॥[1]

---

१ शत० ब्रा० १०।५।२।४।

मृत्यु के पेट में अमृत है एवं मृत्यु के बाहर भी अमृत है। बाहर भीतर सर्वत्र अमृत विद्यमान है एवं अमृतस्वरूप आत्मा को मृत्यु ने आच्छादित कर रखा है अर्थात् मृत्यु अमृत पर सवार रहता है एवं मृत्यु का जो आत्मा है अर्थात् मृत्यु का स्वरूप आत्मा के भीतर (विवस्वति) रहता है। तात्पर्य्य यही है कि अमृत मृत्यु के भीतर भी है, बाहर भी है। एवमेव मृत्युव अमृत के भीतर भी है, बाहर भी है। दोनों दोनों में हैं। दोनों आधाराधेयभा नहीं है। अपि तु, दोनों आधार हैं, दोनों आधेय हैं; अतएव उपनिषत्–श्रुति कहती है—

**"तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः" ॥[1]**

इसी अभिप्राय से भाष्यकार कहते हैं—

"अपि च ब्रूमः-ब्रह्म कर्म्मेति द्वे तत्त्वे संहिते तावदयमेकैकोऽर्थः। एते एवोभे अमृतं मृत्युरिति विद्यात्। अमृतमभयं ब्रह्म। मृत्युः कर्म्म। 'अन्तरं०– इति श्रूयते" ॥

इन्हीं दोनों तत्त्वों को विद्या और अविद्या समझना चाहिए। ब्रह्म ही विद्या है। कर्म्म ही अविद्या है। न केवल विद्या से काम चल सकता, न केवल अविद्या से काम चल सकता है। अविद्या के उपासक अर्थात्–ब्रह्म को झूटा मानने वाले नास्तिक लोग भी–वे भी अन्धकार में हैं एवं जो केवल ब्रह्मवादी हैं–कर्म्म को नहीं मानते हैं–कर्म्म को मिथ्या बतलाते हैं वे और भी गहरे अंधेरे में हैं। क्योंकि जिसे आप ब्रह्म कहते हैं–उसमें कर्म्म भी मौजूद है। विद्या और अविद्या दोनों की उपासना से निःश्रेयसाधिगम हो सकता है। केवल सद्वादी भी कुछ नहीं, केवल असद्वादी भी कुछ नहीं। जो दशा अविद्योपासकों की होती है–उससे भी बुरी दशा विद्योपासकों की होती है, जैसा कि वेद भगवान् स्वयं अपने मुँह से कह रहे हैं—

**"अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः" ॥[2]**

---

१ ईशोप० ५। २ ईशोप० ९-१२।

श्रुति कहती है जो अविद्या की उपासना करते हैं–जो अविद्या को अर्थात्–कर्म्म को सच्चा मानते हैं, वे अंधेरे में घुसते हैं एवं जो विद्या को ही सत्य मानते हैं–जो कर्म्म–प्रपञ्च को मिथ्या मानते हैं–वे और भी गहरे अन्धकार में प्रविष्ट होते हैं । इस प्रकार केवल ब्रह्मवाद और केवल कर्म्मवाद की श्रुति घोर निन्दा करती है । वेद भगवान् विद्या-अविद्या का, ज्ञान-कर्म्म का, अमृत-मृत्यु का, समन्वय चाहते हैं । उनकी दृष्टि में जो दर्जा विद्या का है–वही अविद्या का है । उनकी दृष्टि में दोनों समान हैं । कपूत पुत्र भी दायविभाग में उतना ही अधिकार रखता है–जितना कि सुपूत पुत्र । जो पिता पुत्रों में दायविभाग करते समय विषमता करता है–वह अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारता है । अपने भविष्यवंश में सदा के लिए कलह का बीजारोपण करता है ।

जैसे सूर्य्य-चन्द्रमा का जोड़ा है, अग्नि-सोम का जोड़ा है, इन्द्र-वायु का जोड़ा है, मित्रवरुण का जोड़ा है, प्राणापान का जोड़ा है; ठीक इसी प्रकार अविद्या और विद्या का, ब्रह्म और कर्म्म का जोड़ा है । एक के विना दूसरा कथमपि नहीं रह सकता । ऐसी अवस्था में जो केवल विद्या को मानता है–वह अविद्या का निरादर करता हुआ पतित हो जाता है । जो अविद्या को ही सर्वेसर्वा मानता है–वह भी गर्त्त में गिर जाता है । केवल विद्यावादियों को इस घमण्ड में नहीं आ जाना चाहिए कि हम तो शुद्ध ज्ञान के–शुद्ध विद्या के उपासक हैं, अतः हम तो श्रेष्ठ ही हैं । उनका यह सारा घमण्ड उस समय चूर-चूर हो जाता है । जिस समय वेद भगवान्—

"ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः" ।[1]

(वे उनसे भी अधिक गहरे अन्धकार में प्रविष्ट होते हैं जो कि विद्या की उपासना करते हैं ।) ज्ञानवादियों को यह दुपट्टा–परशाद सोंपते हैं । आगे जाकर केवल विद्या और केवल अविद्यावादियों का खण्डन करते हुए वेद भगवान् कहते हैं—

---

१ ईशोप० ६ ।

"अन्यदेवाहुर्विद्ययान्यदाहुरविद्यया ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे" ।।[1]

तब करना क्या चाहिए ? किसे मानना चाहिए ? उसका उत्तर देते हुए दयालु महर्षि कहते हैं—

"विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते" ।।[2]

जो मनुष्य विद्या और अविद्या दोनों को जानता है, दोनों पर (बुद्धियोग पर) अपनी निष्ठा रखता है—वही अविद्या के द्वारा मृत्युभाग को अलग विविक्त करके अमृत को प्राप्त कर सकता है । विद्या और अविद्या दोनों की उपासना करनी पड़ेगी, तभी श्रेयःप्राप्ति होगी । क्योंकि अविद्या कर्म्म को कहते हैं । विना कर्म्म के कभी भी नैष्कर्म्य-सम्पत्ति प्राप्त नहीं हो सकती । ज्ञान-ज्ञान चिल्लाते रहो—जब तक कर्म्म का सहारा न लोगे—जब तक कुछ काम न करोगे, कथमपि कल्याण नहीं हो सकता । तुम उस ईश्वर के कर्म्मरूप अविद्यारूप अर्ध भाग की निन्दा करके एक क्षणमात्र भी शान्ति-लाभ नहीं कर सकते । इसी श्रुति-रहस्य का प्रतिपादन करते हुए भगवान् कृष्ण कहते हैं—

"न कर्म्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति" ।।[3]

पूर्वश्रुति से विद्या द्वारा अविद्या को तैरकर पारकर जाना बतलाया गया है । यह बात केवल ज्ञानपक्ष में समझनी चाहिए, न कि सत्ता पक्ष में । ज्ञान में विद्या और अविद्या की (ब्रह्म और कर्म्म की) छांट हो सकती है—सत्ता में नहीं । सत्ता दो नहीं हैं—भाति दो हैं । विद्या और अविद्या दो वस्तु होते हुए भी सत्ता के एक होने से—**एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म**—इसका बाध नहीं होता । सजातीय-विजातीय और स्वगत-भेद की व्यावृत्ति के लिए एकम्-एव-

---

१ ईशोप० १० । २ ईशोप० ११ । ३ गीता ३।४ ।

अद्वितीयम्-ये तीन विशेषण लगाए जाते हैं। दस वंशीवट हैं। दसों परस्पर भिन्न हैं। यह सजातीय भिन्नता है एवं कदम्ब और वंशीवट-इन दोनों में विजातीय भेद है एवं स्वयं कदम्ब में ही टहनी अलग हैं, पत्ते अलग हैं। भ्रूण अलग है, पुष्प अलग हैं-यही स्वगतभेद है। मनुष्य-मनुष्यों में जो परस्पर भेद है-वह सजातीय भेद है। मनुष्य और पशु में जो भेद है-वह विजातीय भेद है। हमारे शरीर में ही हाथ कान से भिन्न हैं, कान पैर से भिन्न वस्तु हैं, पैर मस्तक से भिन्न हैं-यही स्वगत (अपने आप में रहने वाला) भेद है। ब्रह्म में ये तीनों ही भेद नहीं हैं। ब्रह्म के जैसा कोई दूसरा ब्रह्म चूँकि नहीं है-इसलिए तो **सजातीय** भेद नहीं है एवं ब्रह्म से विजातीय कोई नहीं है, अतएव विजातीय भेदशून्य है एवं स्वयं भी अखण्ड है इसलिए **स्वगतभेद**शून्य है। इन तीनों भेदों का अभाव दिखलाने के लिए **एकम्, एव, अद्वितीयम्**-ये तीन विशेषण लगाए गए हैं।

कर्म्म नाना हैं तथापि इस पूर्वोक्त अद्वैतवाद का विरोध नहीं होता, चूँकि दोनों की सत्ता एक है, अतएव कर्म्मानन्त्य होने पर भी द्वैत नहीं होता। ज्ञान यदि अनेक हों तो इससे वस्तु-भेद नहीं होता, अपि तु, सत्ता भेद होने पर वस्तु-नानात्व को मौका मिलता है। यदि **अस्ति** दो हैं तो वस्तु दो हैं-यदि अस्ति एक है और भान पचास हैं तब भी वस्तु एक ही कहलाएगी। घट पर दृष्टि डालिए उसमें मिट्टी है। मिट्टी का उपादान पानी होता है, अतएव विज्ञानदृष्ट्या इसमें पानी भी है, पानी का उपादान अग्नि भी है, अग्नि का उपादान वायु भी इसमें मौजूद है एवं वायु का उपादान आकाश (मर्त्याकाश) भी है। आकाश का उपादान सौम्यप्राण भी है एवं सौम्य-प्राण का उपादान मन भी है। इस प्रकार ज्ञानदृष्टया एक ही घट में घट, मिट्टी, पानी, अग्नि, वायु, आकाश, प्राण, मन, ये आठ भाव मिलते हैं। परन्तु क्या इस भानमात्र से घट में आठ वस्तुओं का व्यवहार होता है? हर्गिज नहीं। मनुष्य 'पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश'-इन पाँच भूतों से बना हुआ है। वे पाँचों भूत भी पञ्चीकृत होने के कारण पच्चीस हो जाते हैं। इतना होने पर भी मनुष्य एक है। इसका कारण वही सत्तैक्य है। उत्तरोत्तर वस्तु पूर्व-पूर्व की सत्ता की चद्दर ओढ़ती जाती है। एक ही सत्ता सर्वत्र अनुस्यूत है, अतः भान

में नानात्व होने पर भी हमारा श्रौत अद्वैतवाद ज्यों का त्यों बना रहता है। इस विषय का विस्तृत विवेचन हमने **सत्यकृष्ण-रहस्य** में कर दिया है, अतः इसे अधिक न बढाकर प्रकृत का अनुसरण करते हैं। अमृत और मृत्यु दोनों मौजूद हैं। मृत्यु को अच्छी प्रकार से पहचान लिया जाता है एवमेव अमृत को भी भलीभाँति पहचान लिया जाता है तो समत्व सिद्धि हो जाती है। दोनों पर ध्यान देने से दोनों की उपासना करने से मृत्यु द्वारा अमृत-प्राप्ति हो जाती है। केवल अमृत अपना स्वरूप नहीं दिखला सकता। अमृत एक है, शान्त है–यह बात तभी जानी जा सकती है जब कि कोई अशान्त हो और अनन्त हो। एकत्व और शान्तत्व, अनेकत्व और अशान्तत्व पर निर्भर हैं। अशान्ति कोई वस्तु है–तभी शान्ति-शान्ति है। अभाव से भाव उपपन्न होता है। **इदमस्ति–**यह है–यह सत्ता अभाव पर निर्भर है।

एक पुस्तक पर अपना हाथ रख दीजिए। हाथ को पुस्तक के चारों ओर फिराते जाइए, फिराते-फिराते जब चारों ओर जाकर आपका हाथ खाली स्थान में रुक जाएगा तो आपको **अस्ति पुस्तकमिदं–**यह प्रत्यय हो जाएगा। जब तक चारों ओर पुस्तकाभाव न होगा तब तक पुस्तक-भाव सर्वथा अनुपपन्न ही रहेगा, बस, इसी अभिप्राय को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

"अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते"।[1]

'तीर्त्वा' से 'ज्ञाने तीर्त्वा' अभिप्रेत है। ज्ञान में आप दोनों की छांट कर सकते हैं न कि सत्ता में। क्योंकि दोनों सदा अविनाभूत रहते हैं। भंग में काली मिर्च भी है और भंग भी है एवं चीनी भी है। इलायची भी है–चारों ओतप्रोत हो रहे हैं। यदवच्छेदेन पानी है, तदवच्छेदेन भंग है, तदवच्छेदेन इलायची है, तदवच्छेदेन चीनी है, तदवच्छेदेन काली मिर्च है। चारों का जायका आ रहा है। इलायची की खुशबू भी आ रही है। काली मिर्च का चरपराट भी हो रहा है। बूरे का मिठास भी है। भंग की तिक्तता भी अनुभव

१ ईशोप० ११।

में आ रही है। इस प्रकार ज्ञान में सब विभक्ततया प्रतीत हो रहे हैं, परन्तु सत्ता सब की एक है। एककालावच्छेदेन भान अनन्त हैं। सत्ता एक है। बस, **अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते**—का यही अर्थ है। जब तक आप विद्या और अविद्या दोनों का स्वरूप न समझ लेगें–जब तक ज्ञान कर्म्मो-भयात्मिका बुद्धियोगनिष्ठा की शरण में न आएँगे, तब तक निःश्रेयसाधिगम कठिन ही नहीं अपि तु, असंभव है। श्रुति जिनको अविद्या और विद्या शब्द से व्यवहृत कर रही है–वे ही कर्म्म और अकर्म्म नाम से प्रसिद्ध हैं। अविद्या कर्म्म है, विद्या अकर्म्म है। विद्या प्रकाशस्वरूप है, अविचाली भाव है, निष्क्रिय है, शान्त है, अतएव हम इस ब्रह्मापरपर्य्यायभूता विद्या को **अकर्म्म** कहने के लिए तय्यार हैं। अविद्या क्रियारूपा है। क्रिया ही कर्म्म है, अतएव अविद्या अवश्य ही कर्म्म कहला सकती है। सारी क्रिया, सारा कर्म्म, सारी अविद्या, उसी अकर्म्म ब्रह्म में प्रतिष्ठित रहती है। विना ब्रह्म के–विना अकर्म्म के कर्म्म रह नहीं सकता एवं विना कर्म्म के अकर्म्म नहीं रह सकता। ज्ञान विना क्रिया के अनुपपन्न है एवं क्रिया विना ज्ञान के अनुपपन्न है। यदि इन्जिनियरी करनी है तो पहले तद्विषयक ज्ञान संपादन करो। पहले उसकी विद्या जानो तब जाकर के यह कर्म्म कर सकते हो एवं साथ ही में यदि इन्जिनीयरी विद्या जानना चाहते हो तो परिश्रम करो, पुस्तक पढ़ो, रात-दिन मशीनरी का निरीक्षण करो। करोगे तब जानोगे, जानोगे तब करोगे। किए विना जान नहीं सकते, जाने विना कर नहीं सकते। दोनों लाजिम व मलजूम हैं, दोनों-दोनों में रहते हैं। कर्म्म के जर्रे-जर्रे में अकर्म्म व्याप्त हो रहा है। अकर्म्म के जर्रे-जर्रे में कर्म्म व्याप्त हो रहा है। इसी ब्रह्मकर्म्म-रहस्य का प्रतिपादन करते हुए दार्शनिक शिरोमणि भगवान् कृष्ण कहते हैं—

"कर्म्मण्यकर्म्म यः पश्येदकर्म्मणि च कर्म्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्म्मकृत्"॥[1]

भगवान् कहते हैं कि जो कर्म्म में अकर्म्म को अनुस्यूत देखे एवं अकर्म्म में कर्म्म को अनुस्यूत देखे मनुष्यों में वही बुद्धिमान् है। अर्थात्–समझ

१ गीता ४।१८।

लो वही बुद्धियोग-सम्पत्ति से युक्त है। समझ लो उसने सब कुछ कर लिया। अपि च—

"ब्रह्मण्याधाय कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा" ॥[1]

ब्रह्म में कर्म्मों का आधान करके आसक्ति छोडकर कर्म्म करने वाला कर्म्मजन्यवासना से उस प्रकार अलिप्त रहता है जैसे रात-दिन पानी में रहता हुआ भी कमलपत्र पानी से अस्पृष्ठ रहता है। ब्रह्म ज्ञान का नाम है। ज्ञानार्थ कृतकर्म्म वासना को उत्पन्न ही नहीं करता। क्योंकि ज्ञान असंग है। जैसे काच असंग रहता है तथैव यह ज्ञान असंग है, अतः यदि बन्धन से मुक्त होना चाहते हो तो भगवान् के आदेशानुसार सारे कर्म्म-प्रपञ्च को ब्रह्म में डाल दो। ब्रह्मार्पण से ही बन्धन से निकल सकते हो। कोरा कर्म्म कुछ नहीं है, ज्ञानसमुच्चित कर्म्म ही वास्तविक तत्त्व है। अपि च—

"नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्"।[2]

"नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्"।[3]

दो कान, दो नाक, दो आँख, एक मुँह, उपस्थ और मूलाधार इस शरीरपुर के ये ९ दरवाजे हैं। नो दरवाजों वाले इस शरीरपुर में—ब्रह्मपुर में रहने वाले अन्तर्गर्भप्रजापतिब्रह्म सदा **मैं कुछ नहीं करता हूँ**—इस भावना में युक्त होता हुआ न कुछ करता है और न करवाता है। जयपुरनरेश जयपुर के भीतर निवास करते हैं। इस पुर के चाँदपोल, सूरजपोल, किशनपोल, गंगापोल, शिवपोल, त्रिपोल—इत्यादि नो दरवाजे हैं। नवों दरवाजों में से हजारों मनुष्य आते हैं, हजारों जाते हैं। कोई सौदा खरीदता है, कोई नोकरी करता है कोई पढाता है, कोई नाटक देखता है, कोई गैंद खेलता है। सब अपने-अपने कार्य में व्यस्त हैं। क्या जयपुरनरेश इन सबका रात-दिन निरीक्षण (इंस्पेक्शन) किया करते हैं? हर्गिज नहीं। चाहे कोई आओ-कोई

१ गीता ५।१०।　　२ गीता ५।१३।　　३ गीता ५।८।

जाओ, वे बेलाग रहते हैं। यदि कोई मनुष्य गिर पड़ता है तो ठोकर खाता है, इससे राजा का क्या सम्बन्ध ? उन मनुष्यों से न राजा–तुम पढो, तुम नौकरी करो, तुम सौदा खरीदो–ये काम करवाता है, न स्वयं उनका काम करता है। बस, ठीक इसी प्रकार नोद्वार शरीरपुर में अधिष्टित देही न कुछ करता है, न इन्द्रियों द्वारा करवाता है। कर्म्म क्षुभ्यमाण है। हरवक्त क्षुब्ध ही रहता है। क्षोभ ही उसका स्वरूप है। ऐसे कर्म्म से वह ब्रह्म एकदम भिन्नस्वभाव है। वह सर्वथा शान्त है। भला, ऐसा ब्रह्म कर्त्ता और कारयिता क्योंकर हो सकता है ? करना भी क्रिया है, करवाना भी क्रिया है। वह क्रिया से सर्वथा अलग है, अतएव न वह कर्त्ता है, न कारयिता है।

आत्मा **अक्षणब्रह्म** है अर्थात्–वह क्षण सम्पत्तिशून्य है। आत्मा **क्षणिकं क्षणिकं** नहीं है अपि तु, **नित्यं-नित्यं** है। उस अक्षणब्रह्म में यह त्रिक्षणस्वरूप सारा कर्म्म-प्रपञ्च नाचा करता है। उत्पत्ति-स्थिति और लय कर्म्म के ये ही तीन क्षण हैं। इस प्रकार सारा कर्म्म त्रिक्षण है। अक्षण-क्षण, ब्रह्म-कर्म्म, ज्ञान-क्रिया, विद्या-अविद्या, अकर्म्म-कर्म्म, अमृत-मृत्यु–ये सब एक ही वस्तु हैं। अक्षण में क्षण व्याप्त रहता है। ज्ञान में क्रिया अभिव्याप्त रहती है। यदि आप इस ब्रह्मतत्त्व और कर्म्मतत्त्व के दर्शन करना चाहते हैं तो अपने आपको टटोलिए और देखिए आपको अपने में क्या दीखता है ? देखने की देर है–जहाँ जरा विचार किया कि आपको मालूम हो जाएगा कि हम या तो कुछ करते हैं या कुछ जानते हैं। जानने के और करने के अलावा हम और कुछ नहीं हैं। खूब कहा–कुछ न कैसे नहीं जानते ? कुछ नहीं जानते–यह जानते हो। कितना ही प्रयास करिए सिवाय ज्ञातव्य और कर्त्तव्य के अलावा कहीं भी-कभी भी तीसरी बात नहीं बतला सकते। बस, इस ज्ञातव्यांश को ही ब्रह्म समझिए और कर्त्तव्यांश को ही कर्म्म समझिए। आप जो कुछ जानते हैं–वह सब ब्रह्म है एवं जो कुछ काम करते हैं–वही कर्म्म है। ब्रह्मकर्म्म आपके पास बैठे हैं। पास क्या बैठे हैं आप स्वयं ब्रह्मकर्म्म की ज्ञानक्रिया की समष्टिमात्र हैं। आप ही नहीं अपि तु, संसार की प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक पदार्थ ज्ञानक्रिया का ऐकभाव्यमात्र है। एक तिल भी ज्ञानक्रिया की समष्टि है, एक पर्वत भी ज्ञानक्रिया की समष्टि है। स्वयं ईश्वर ज्ञानक्रिया की समष्टि है।

जिसे आप अर्थ कहते हैं, पदार्थ कहते हैं, वस्तु कहते हैं–यदि आप उसका विशकलन करेंगे तो आपको उसमें सिवाय ज्ञान के और कर्म्म के कोई तीसरी वस्तु मिल ही नहीं सकती। यदि अर्थ में से आप ज्ञान और क्रिया को निकाल देवें तो वह 'अर्थ' अर्थ ही न रहेगा। सम्पूर्ण प्रपञ्च से बतलाना हमें यही है कि श्रुतिप्रमाण्यात्, अनुमानानुरोधात् ब्रह्म और कर्म्म दोनों तत्त्वों को मानना चाहिए। सदसत्वाद ही पर विश्राम करना चाहिए। इसी अभिप्राय से भाष्यकार कहते हैं—

"एते-एवोभे विद्या चाविद्या चेति विद्यात्। ब्रह्मविद्या, कर्म्म त्वविद्या नाम। 'विद्या' चाविद्यां च०'–इत्यादि श्रुयते। अथैते एव कर्म्म चाकर्म्म चेति विद्यात्। ब्रह्म हि तत्राकर्म्मेष्यते। अकर्म्मणीदं सर्वं कर्म्मोपपद्यते। कर्म्मणि चाकर्म्मेत्याहुः। 'कर्म्मण्य०, ब्रह्मण्याधाय०, नवद्वारे०'। अतिरिक्तं हीदं कर्म्मणः कुर्वद्रूपात् क्षुभ्यमाणादकुर्वद्रूपं नितान्तशान्तं ब्रह्म। तस्मान्नेदं कुरुते, न कारयति–इति ब्रूमः। आत्मा हीदमक्षरणं ब्रह्म। तत्रेदमखिलं त्रिक्षरणं कर्म्म। यावदिह ज्ञातव्यं किञ्चित्तत् सकलं ब्रह्म। ज्ञानं ब्रह्म। यावदिह वा कर्त्तव्यं किञ्चित्तत् सकलं कर्म्म। क्रिया कर्म्म। ज्ञानक्रिययोरैकभाव्यमयमेकैकोऽर्थः। नार्थे ज्ञानक्रियाभ्यामतिरिच्यते किञ्चित्" ॥

यह हुआ ब्रह्म-कर्म्म का सामान्य विवेचन। यदि, कैसे ब्रह्म-कर्म्म का समन्वय हुआ? कैसे ब्रह्म-कर्म्म से जगत् बन गया?–इन बातों को जानने की विशेष जिज्ञासा हो तो–श्री गुरुप्रणीत **ब्रह्मसमन्वय** अथवा **ब्रह्म चतुष्पदी** नाम के ब्रह्मकर्म्मप्रतिपादक ग्रन्थ देखने चाहिए। प्रसंगागत ब्रह्मसमन्वयादि में प्रतिपादित ब्रह्मकर्म्म का सूक्ष्मस्वरूप अपने श्लोकों से भाष्यकार यहाँ भी बतला देते हैं –

"यदिदं दृश्यते किञ्चित्तद्विद्याद् ब्रह्म कर्म्म च।
कर्म्म क्षुब्धं ब्रह्म शान्तं विश्वं तदुभयान्वयः" ॥

अर्थात्–आँख खोलने पर घट–पट–मठ–सूर्य्य–चन्द्रादिस्वरूप जितने भी दृश्य पदार्थ हम देखते हैं, उस सारे दृश्य-प्रपञ्च को ब्रह्म और

कर्म्म इन दो तत्त्वों से युक्त समझना चाहिएँ। जो कुछ देखते हैं–उन सब में ब्रह्म और कर्म्म दो ही तत्त्व समझने चाहिएँ। ब्रह्म और कर्म्म समझने चाहिएँ–यह आप से जबर्दस्ती नहीं मनवाया जा रहा है अपि तु, आपको खुद ब खुद दोनों तत्त्व मानने पड़ते हैं। आप जो कुछ आँखों से देखते हैं–उसमें आप दो भावों का प्रत्यक्ष कर रहे हैं। वह दृश्य वस्तु हरवक्त बदल रही है–यदि ऐसा न होता तो वह कभी पुरानी न होती कभी जीर्ण न होती, अतएव आपको मानना पड़ेगा कि हाँ, वास्तव में दृश्य वस्तु प्रतिक्षण बदल रही है। वह दृश्य क्षणिक क्षोभ से अत्यन्त क्षुब्ध है, परन्तु साथ ही में उस दृश्य घट-पटादि में आप **अस्ति** इस नित्य शान्त तत्त्व का भी अनुभव कर रहे हैं। जो वस्तु–जो दृश्य पदार्थ सर्वथा क्षणिक है–जिसका स्थिति-क्षण भी बदलता हुआ ही है–उसे भी आप **अस्ति घटः**- इस प्रकार अस्ति की उपाधि देने के लिए तय्यार हैं। यह अस्तिभाव ठीक उस परिवर्तनीय तत्त्व के विरुद्ध है। वह अत्यन्त क्षुब्ध है, यह अत्यन्त शान्त है। वह सर्वथा क्षणिक है–सर्वथा अक्षण है। एक ही दृश्य में आप दोनों भावों का प्रत्यक्ष दर्शन कर रहे हैं। आपके दृश्य का वह शान्त-भाव ही ब्रह्म है एवं अशान्त ही कर्म्म है। दोनों का जो समन्वय है–वही दृश्य-जगत् है। दोनों जब तक अलग हैं (सहचर-सम्बन्धमुक्त हैं) तब तक दृश्य विश्व नहीं है। ब्रह्म और कर्म्म के समन्वय से, सम्बन्ध से विश्व का उदय होता है। शान्त और अशान्त दोनों की समष्टि पर विश्वस्वरूप अवलम्बित है। बिना दोनों के समन्वय के कथमपि विश्वोत्पत्ति नहीं हो सकती। भगवान् वेदव्यास का **तत्तु समन्वयात्** कहना सोलह (१६) आना ही नहीं अपि तु, सवासत्रह आना सत्य है—

> **"अन्योऽन्यमविनाभूतं प्रतिद्वन्द्वयभिभावकम्।**
> **सहकारि च सापेक्षं सधर्मि च विधर्म्मि च"–इति ।।**

ब्रह्म और कर्म्म दोनों अविनाभूत हैं। न ब्रह्म-कर्म्म के विना रह सकता है–न कर्म्म ब्रह्म के विना रह सकता है। ज्ञान क्रिया के विना नहीं रह सकता–न क्रिया विना ज्ञान के रह सकती, इसलिए हम इन्हें अन्योन्याविनाभूत कहने के लिए तय्यार हैं। दोनों एक दूसरे के महाशत्रु हैं–दोनों में परस्पर

अत्यन्त वैर है । ज्ञान शान्त है, निष्क्रिय है, निरञ्जन है, व्यापक है, प्रकाश-स्वरूप है । क्रिया अशान्त है, साञ्जन है, व्याप्य है, क्षणिक है, तमोमय है । अन्धकार और प्रकाश दोनों प्रतिद्वन्द्वी हैं । अन्धकार प्रकाश का शत्रु है, प्रकाश अन्धकार का शत्रु है । तथैव तम प्रकाशवत् यह ज्ञान और क्रिया, ब्रह्म और कर्म्म अत्यन्त विरुद्ध हैं । दोनों में परस्पर प्रतिद्वन्द्वित्व हैं एवं साथ ही में दोनों अभिभावक हैं । ज्ञान ने क्रिया को दबा रखा है । क्रिया ने ज्ञान को दबा रखा है । अमृत मृत्यु के जर्रे-जर्रे में अभिव्याप्त हो रहा है एवमेव मृत्यु अमृत के परमाणु-परमाणु में अनुस्यूत है । कदाचित् कहो कि यदि यह तम प्रकाशवत् है तो फिर दोनों शामिल कैसे रह सकते हैं ? क्योंकि हम देखते हैं कि जहाँ प्रकाश रहता है–वहाँ अन्धकार नहीं रहता एवं जहाँ अन्धकार रहता है वहाँ प्रकाश नहीं रहता । इसके उत्तर में हम अधिक न कहकर यही कहेंगे कि–**जहाँ अन्धकार है वहाँ प्रकाश नहीं है और जहाँ प्रकाश है वहाँ अन्धकार नहीं है**–आपका यह कहना ही सर्वथा अशुद्ध है । जिसे आप प्रकाश समझ रहे हैं विश्वास कीजिए उसके जर्रे-जर्रे में अन्धकार घुसा हुआ है एवं जिसे आप अन्धकार समझ रहे हैं उसके जर्रे-जर्रे में प्रकाश व्याप्त है । कैसे व्याप्त है ? इसका निरूपण 'ज्योतिकृष्ण-रहस्य' में कर दिया गया है ।

यहाँ पर हमें केवल इतना ही कहना है कि दोनों दोनों में दबे हुए हैं । **अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम्**–से यही बात बतलाई जाती है । दोनों परस्पर प्रतिद्वन्द्वि हैं, परन्तु दोनों सहकारी हैं, सापेक्ष हैं, कर्म्म को अपना स्वरूप दिखलाने के लिए ज्ञान की अपेक्षा है । ज्ञान को कर्म्मसहकार की अपेक्षा है । ज्ञानसिद्ध पदार्थ ही कर्म्म है एवं कर्म्मसिद्ध तत्त्व ही ज्ञान है । कर्म्ममय पदार्थ है–इसलिए जानते हैं–इसलिए है । दोनों में उपकार्य्योपकारक-भाव है । चक्षुरिन्द्रिय शीतधर्म्मा है । चक्षु शीतोपचार चाहता है, परन्तु अत्यन्त विरुद्ध सूर्य्यप्रकाश की अपेक्षा भी रखता है । सूर्य्य अत्युष्ण है एवं चक्षुशीत हैं । उष्ण और शीत अत्यन्त विरुद्ध पदार्थ हैं, परन्तु विना उष्ण के–विना सौरप्रकाश के चक्षुरिन्द्रिय बेकार है । चावलों में पानी भरकर उसे अग्नि पर चढा दिया जाता है । उधर से पानी अपना काम करता है, इधर से अग्नि अपना काम करता है । दोनों के समन्वय से भात तय्यार हो जाता

है। अग्नि सर्वथा तापधर्म्मा है, पानी सर्वथा शीत है। अग्नि और पानी परस्पर घोर शत्रु है। दोनों प्रतिद्वन्द्वि हैं, परन्तु भातनिर्म्माण में दोनों की अपेक्षा है। विना पानी के अकेला अग्नि चावलों को खाक कर ढालेगा एवं विना आग के कोरा पानी चाँवलों को गला डालेगा, अतएव दोनों के समन्वय की जरूरत है। जब दोनों मिलते हैं, तब भात बनता है। ठीक इसी प्रकार ब्रह्म और कर्म्म अत्यन्त विरूद्धधर्म्मा हैं–एक दूसरे में घोर शत्रुता है, परन्तु विश्वनिर्म्माण में दीनों को एक दूसरे के सहकार की अपेक्षा है। भात-निर्म्माण में अग्नि और पानी सधर्मी हैं। अग्नि का भी धर्म्म भात बनाना है एवं पानी का धर्म्म भी भात बनाना है, परन्तु प्रातिस्विकरूपेण दोनों विधर्मी हैं। अग्नि का धर्म्म उष्णत्व है पानी का धर्म्म शीतत्व है। ठीक इसी प्रकार विश्वनिर्माण में ब्रह्म-कर्म्म सधर्म्मी हैं। दोनों का विश्वनिर्म्माणरूप एक धर्म्म है, परन्तु प्रातिस्विकरूपेण दोनों सर्वथा विधर्मी हैं।

"तारतम्येन तत् कर्म्मयोगाद् ब्रह्म द्विधा विदुः।
परं ब्रह्मावरं ब्रह्म परं त्वात्मैव स द्विधा"–इति॥

इस प्रकार जगत् के मूलभूत अन्योन्याविनाभूत प्रतिद्वन्द्वी, अभिभावक, सहकारी, सापेक्ष, सधर्म्मी और विधर्म्मी जो ब्रह्म और कर्म्म हैं उनमें से जो ब्रह्म है–वह कर्म्मयोग के कारण कर्म्म के तारतम्य से भागद्वय में परिणत हो जाता है। कर्म्म-सम्बन्ध के तारतम्य से वह ब्रह्म परब्रह्म और अपरब्रह्म–ये दो स्वरूप धारण कर लेता है। इन दोनों में जो परब्रह्म है–उसे हम आत्मा कहेगे एवं अपर ब्रह्म को विश्व कहेंगे, जिसका कि निरूपण आगे किया जाएगा। पहले परब्रह्म का ही स्वरूप जानना आवश्यक है। परब्रह्म का स्वरूप बतलाएँ, इसके पहले इस बात का खूब ही स्मरण रखना चाहिए कि जिसे हम ब्रह्म-आत्मा इत्यादि शब्दों से व्यवहृत करेंगे। उसमें कर्म्म भी समझना चाहिए। **परब्रह्म शुद्ध ब्रह्म है**–यह कभी न समझिए। चूँकि परब्रह्म में ब्रह्मतत्त्व उल्बण है–कर्म्मतत्त्व सर्वथा दबा हुआ है, अतएव—

"वैशेष्यात्तु तद्वाद०–इत्यादि।

—इस न्याय के अनुसार वहाँ **ब्रह्म**-शब्द का प्रयोग कर दिया जाता है एवं जिस जगत् को **कर्म्म** नाम से व्यवहृत किया जाता है उसमें भी **ब्रह्म** अवश्य ही समझना चाहिए। चूँकि वहाँ कर्म्म ही उल्बण रहता है, अतएव उसी पूर्वन्यायानुसार **कर्म्म** कह दिया जाता है। वस्तुतः दोनों में दोनों रहते हैं। इन ब्रह्म और कर्म्म-दोनों तत्त्वों में जो ब्रह्मतत्त्व है—वही कर्म्म के तारतम्य से—अल्पाधिक्य से परब्रह्म और अपरब्रह्म दो स्वरूप धारण कर लेता है। दोनों में से जो परब्रह्म है—वह **आत्मा**-शब्द से व्यवहृत होता है। **ब्रह्म** चूँकि सर्वत्र व्याप्त रहता है—सर्वत्राप्रतिहतगति है, अतएव—**अतति सर्वत्र-सातत्येन गच्छति व्याप्तो वर्त्तते**—इस व्युत्पत्ति से इसे **आत्मा** कहा जाता है। यह आत्मा अर्थात्—परब्रह्म भी इसी बल के—कर्म्म के तारतम्य से पुनः दो स्वरूपों में परिणत हो जाता है। वे ही दोनों **परात्पर** और **षोडशी** नाम से प्रसिद्ध हैं। सर्वबलविशिष्ट रस का नाम ही परात्पर है। शुक्ल, कृष्ण, पीत, हरित, नील, लोहित—सब रंग उसमें मौजूद हैं। वही काला है, वही पीला है, वही हरित है सब कुछ वही है। सारा कर्म्मकलाप-सारा कर्म्म-प्रपञ्च उसमें सहचररूप से समा रहा है। वही अणोरणीयान् है—वही महतोमहीयान् है। कर्म्म-कर्म्म का सारा सीगा जिस ब्रह्म में सहचरभाव से अवस्थित है—वह सर्वबल-विशिष्ट-रस-सर्वबलविशिष्टब्रह्म ही **परात्पर** कहलाता है। यह परात्पर असीम है, व्यापक है, अतएव शास्त्रानधिकृत है। इस व्यापक सर्वबलविशिष्टब्रह्म का यत्किंचित्प्रदेश मायाबल से परिच्छिन्न हो जाता है। यद्यपि यह माया-वच्छिन्नरस माया के घेरे के कारण ससीम बन जाता तथापि रहता है—असंग। कर्म्म की चिति केवल मायाबलावच्छिन्न रस पर नहीं होती, अतएव इसे **अव्यय** कहा जाता है। बाद में अनन्तानन्त योगमायाओं से उत्पन्न होने वाले चितिबलों के कारण यही अव्यय-आत्मा चिदात्मा कहलाने लगता है।

यह महामायावच्छिन्न परब्रह्म अकेला नहीं रहता अपि तु, परा और अपरा—इन दो प्रवृतियों से अविनाभूत रहता है। स्वयं अव्ययात्मा पञ्चकल है। अक्षर पञ्चकल है एवं क्षर भी पञ्चकल है। इस प्रकार एक ही आत्मा पञ्चदशकलोपेत हो जाता है। सोलहवाँ वह असीम सर्वबलविशिष्ट परात्पर-ब्रह्म भी इसमें अनुस्यूत रहता है। इस प्रकार नियतबलविशिष्ट महामाया-

वच्छिन्न ब्रह्म **षोडशी** नाम से प्रसिद्ध होता है। इस प्रकार कर्म्ममात्र के तारतम्य से एक ही ब्रह्म पहले 'पर' और 'अपर' दो स्वरूप धारण करता है एवं उसमें भी केवल परब्रह्म जो कि आत्मा कहलाता है, इसी कर्म्म-तारतम्य से परात्पर और षोडशी दो स्वरूप धारण कर लेता है। सर्वबलविशिष्ट रस ही परात्पर-शब्द से सुना जाता है एवं महामायावच्छिन्न अतएव नियत बल-विशिष्टब्रह्म षोडशी कहलाता है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"अशेषकर्म्मवद् ब्रह्म परात्परमिति श्रुतम्।
महामायाकर्म्मभेदावच्छिन्नः षोडशी परः ॥

षोडशी-पुरुष भी **परात्मा** है एवं परात्पर भी परात्मा है। चूँकि परषोडशी से सर्वबलविशिष्टब्रह्म 'पर' है, अतएव **परादपि परः**–इस व्युत्पत्ति से उसे **परात्पर** कहा जाता है। यह परात्पर विश्वातीत है क्योंकि विश्व ससीमता से सम्बन्ध रखता है। परात्पर असीम है। उससे विश्व क्योंकर उत्पन्न हो सकता है? इसी विश्वातीत परात्पर को **परमेश्वर** कहा जाता है। यह परमेश्वर असीम है। इसमें अनन्तानन्तमायाबल हैं। उस प्रत्येक माया से परिच्छिन्न जो ब्रह्म है–वही परात्मा कहलाता है–वही षोडशी प्रजापति कहलाता है–वही **ईश्वर** कहलाता है। चूँकि परात्पर के पेट में मायाबल अनन्त हैं एवं एक-एक माया से एक-एक ईश्वर का स्वरूप बनता है। मायावच्छिन्नमायी ही तो महेश्वर किंवा विश्वेश्वर कहलाता है। जैसा कि श्रुति कहती है—

"मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्"।[1]

अतएव उस अमायी-असीम-विश्वातीत-परात्पर-परमेश्वर के उदर में अनन्तानन्त ईश्वर (षोडशी पुरुष) मानने पड़ते हैं। परात्पर एक है, ईश्वर अनन्त हैं। परमेश्वर अजर-अमर है–ईश्वर अवच्छेद के कारण **संयोगा वि-प्रयोगान्ताः**–इस न्यायानुसार मरणधर्म्मा है। मायावच्छिन्न एक ईश्वर के शरीर के–स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी–ये पाँच अवयव हैं।

---

१ श्वेता० उप० ४।१०।

इतना बडा एक ईश्वर है । यही एक ब्रह्माण्ड है । इस एक **ब्रह्माण्ड** के भीतर ऋषि, पितर, देवता, गन्धर्व, असुर, पिशाच, मनुष्य, कृमि, कीट, पतंग पशु, पक्षि–इत्यादि-इत्यादि अगणित जीव हैं । ब्रह्माण्डान्तर्गत सारे जीवों का उसी ईश्वर से सम्बन्ध है । दूसरे ब्रह्माण्ड से–दूसरे ईश्वर से इनका कोई ताल्लुक नहीं है । ब्रह्माण्ड के भीतर रहने वाले अस्मदादि की अपेक्षा से वह ईश्वर ही **परमेश्वर** है । जो वास्तव में परात्पर परमेश्वर है–उसका हमारे से कोई सम्बन्ध नहीं । यदि सम्बन्ध है भी तो ईश्वर द्वारा है न कि साक्षात् । ईश्वर के शरीर में अनन्त जीव उत्पन्न होते रहते हैं और नष्ट होते रहते हैं । हम सब ईश्वर-शरीर के कीड़े हैं । एवमेव हमारा शरीर भी अनन्तानन्त कीटाणुओं से अभिव्याप्त है । उन सबके ईश्वर हम हैं । हम सबका ईश्वर मायावच्छिन्न षोडशी पुरुष है । ऐसे-ऐसे अनन्तानन्त ईश्वर परमेश्वर के भ्रूण हैं । एक-एक ईश्वर एक-एक ब्रह्माण्ड का अधिष्ठाता है । परमेश्वर में चूँकि अनन्त ईश्वरों के कारण अनन्तब्रह्माण्ड हैं, अतएव **जाके रोम कोटि ब्रह्माण्ड**–यह कहा जाता है ।

प्रकृत में सारे प्रपञ्च से बतलाना हमें यही है कि सर्वबलविशिष्ट-परब्रह्म एक है–वह असीम है–विश्वातीत है एवं मायावच्छिन्न नियतबल-विशिष्टब्रह्म षोडशी है–वही ईश्वर कहलाता है–परात्मा कहलाता है । स्वयम्भू आदि पाँचों पिण्ड इसी के अवयव हैं एवं मायानन्त्यात् यह भी अनन्त हैं—

"परमेश्वर इत्युक्तो विश्वातीतः परात्परः ।
तत्रेश्वराः परात्मानः सन्ति षोडशिनोऽमिताः (अनन्ताः)" ।।

महामाया नाम के मिति करने वाले कर्म्म से (बल से) अवच्छिन्न जो अव्ययपुरुष है वह 'पर' कहलाता है, प्रकृतिभूत अक्षरब्रह्म **परावर** कहलाता है एवं अक्षर से भिन्न अपराप्रकृतिस्वरूप क्षरपुरुष **अवर** कहलाता है । अक्षर क्षरापेक्षया 'पर' है एवं अव्ययापेक्षया अवर होने के कारण **परावर** कहलाता है एवं अक्षर से भी परे होने के कारण अव्यय 'पर' कहलाता है एवं सबसे नीची कोटि में रहने के कारण क्षरपुरुष **अपर** कहलाने लगता है—

"महामायाकर्म्मभेदावच्छिन्नस्तु परोऽव्ययः ।
परावरोऽक्षरस्तत्र क्षरस्तत्रावरः परः (अन्यः)" ।।

बस, परपुरुष, परावरपुरुष एवं अवरपुरुष दूसरे शब्दों में उत्तमपुरुष (पुरुषोत्तम अव्यय) मध्यमपुरुष एवं प्रथमपुरुष ही क्रमशः अव्यय-अक्षर-क्षर नाम से प्रसिद्ध हैं । इन तीनों पुरुषों की जो समष्टि है–वही **षोडशी परब्रह्म** कहलाता है । त्रिपुरुषपुरुष ही षोडशी प्रजापति है । यही ईश्वर है—

"त्रयोऽमी पुरुषा उक्ता अव्ययश्चाक्षरः क्षरः ।
त्रयस्ते पुरुषा युक्ताः षोडशी पुरुषः परः" ।।

बस, यही परब्रह्म आत्मा सर्वत्र व्याप्त हो रहा है । सारे ब्रह्माण्ड में यह षोडशी आत्मा अभिव्याप्त है । इस षोडशी प्रजापति का जो क्षरभाग है–वह परिणामी है । हरवक्त उसमें से विकार निकला करते हैं । बस, विकारावस्था में परिणत जो क्षर है–वही विश्व है एवं अपरिणामी क्षर ही इस विश्व की आत्मा है–यही आत्मक्षर कहलाता है । इस प्रकार अव्यय-अक्षर और आत्मक्षर ये तो षोडशी परब्रह्म है एवं विकारक्षर अवर-ब्रह्म में चला जाता है । यह षोडशी आत्मा अकर्म्मस्वरूप समझना चाहिए । यद्यपि इसमें कर्म्म अवश्य है, परन्तु वह अनुद्बुद्ध है, अतएव षोडशी को अकर्म्म कहा जा सकता है । इस प्रकार कर्म्म तारतम्य से ब्रह्म के 'पर' और 'अवर' दो स्वरूप हो जाते हैं एवं पुनः कर्म्मतारतम्य से ही परब्रह्म के परात्पर और षोडशी दो भेद हो जाते हैं । दोनों में परात्पर ब्रह्म नित्यशुद्ध, नित्यमुक्त, नित्यबुद्ध है । वहाँ कर्म्म का लेश भी नहीं है । अर्थात्–कर्म्म है तो सही, परन्तु सहचररूपेण रहने के कारण एवं असीमता के कारण उसका रहना न रहना दोनों बराबर हैं । चूँकि परात्पर कर्म्मासक्ति से विमुक्त है अतएव हम इसे **अकर्म्म** कहने के लिए तय्यार हैं । इसका सृष्टि से कोई सम्बन्ध नहीं है ।

षोडशी पुरुष महामायावच्छिन्न होने के कारण कर्म्म-प्रपञ्च का तो साथी अवश्य बन जाता है, परन्तु रहता है स्वतन्त्र ही । इस प्रकार कर्म्म का

साथी रहता हुआ भी षोडशी पुरुष चूंकि असंग है। इसमें **ब्रह्मभाग** उल्बण है, अतएव इसे भी हम **अकर्म्म** कहने के लिए तय्यार हैं। जहाँ तक माया का घेरा है–वहाँ तक यह अव्ययब्रह्मषोडशी अभिव्याप्त रहता है, अतएव अव्ययेश्वर भगवान् कहते हैं—

"मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव" ॥[1]

बस, इस प्रकार परब्रह्म-परात्पर और षोडशी दो भागों में विभक्त है। दोनों ही अकर्म्म हैं। इनमें षोडशी-आत्मा नाम का **परब्रह्म** ही सारे विश्व से अभिव्याप्त हो रहा है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"आत्मैवेदं परं ब्रह्म सर्वत्राप्तमकर्म्म तत्"।

दूध से जैसे मलाई बनती है तथैव आत्मक्षर में विकार निकलते रहते हैं। उस विकारसमष्टि का नाम ही अवरब्रह्म है। जैसे लोहे से उत्पन्न जंग लोहे पर ही सवार होता जाता है तथैव आत्मक्षर से उत्पन्न विकारसंघ विकारक्षर पर ही सवार होता जाता है। इस विकार के कारण वह आत्मत्व दबता जाता है एवं कर्म्म ही कर्म्म का राज्य रह जाता है, परन्तु खाली कर्म्म ही नहीं रहता। जैसे जंग के भीतर लोहा रहता है, फेन के नीचे पानी छुपा रहता है, मलाई के नीचे दूध तिरोहित रहता है तथैव विकारसंघ के भीतर वह आत्मक्षर (अक्षराव्ययाविनाभूत) अवरपुरुष बैठा रहता है। बस, इसी का नाम **अवरब्रह्म** है। यह अवरब्रह्म आत्मा और पुर दो भागों में विभक्त है। विकारसंघ के बीच में वह अवरात्मक्षर रहता है इसलिए उसे 'पुर' किंवा ब्रह्मपुर कहते हैं। इसमें वह क्षरात्मा रहता है। बस, जो पुर है–उसी का नाम विश्व है। आत्मा का नाम **अवरब्रह्म** है। सारा दूध ही तो मलाई नहीं बन जाता। तथैव सारा आत्मक्षर ही विकारस्वरूप में परिणत नहीं होता। बस, जो विकारस्वरूप में परिणत नहीं होता है वह तो **आत्मा**

---

१ गीता ७।७।

कहलाता है एवं जो विकार बन जाता है–वह विश्व कहलाता है। दोनों की समष्टि ही अवरब्रह्म है। इस प्रकार सर्वत्र ब्रह्म ही ब्रह्म का राज्य है। वही ब्रह्मकर्म्मसमष्टि परात्पर है–वही ईश्वर है–वही विश्व है। ब्रह्म और कर्म्म के अलावा और कुछ भी नहीं है। फिर क्यों न हम–**एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म**–यह कहें।

इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"अथ कर्म्मावरं ब्रह्म तदात्मा च पुरं च तत्"।

ब्रह्म और कर्म्म ही सब कुछ कैसे बना है? इसका एक प्रकार से आलोडन हो चुका। अब इसी का दूसरी तरह से प्रतिपादन करते हैं जिससे कि 'ब्रह्मकर्म्म-रहस्य' भली-भाँति मालूम हो जाए।

जिस ब्रह्म की गाथा अब तक गाते आ रहे हैं वह ब्रह्मकर्म्म के अनुबन्ध की अपेक्षा से सृष्ट, प्रविष्ट और उन्मुक्त–ये तीन स्वरूप धारण कर लेता है। इन्हीं को विश्व, विश्वचर, विश्वातीत–इन शब्दों से भी कहा जाता है। इन्हीं को अवरब्रह्म, परब्रह्म एवं परात्पर भी कहा जा सकता है। श्रुति कहती है—

"तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्"।[1]

पैदा करके यह उसी के भीतर प्रविष्ट हो जाता है। पैदा करने वाला-उपादानकारणभूत वही आत्मक्षर है। वही कर्म्म को अपने ऊपर चढाते-चढाते आज सृष्टरूप में परिणत हो गया है। संसार में जितने भी पदार्थ देखे जाते हैं–वे सब बल की ढेरियाँ हैं। जैसे ईंट पर ईंट रखने से मकान बन जाता है तथैव बल पर बल, बल पर बलके चयन (चुनाव) होने से ये पदार्थ बने हुए हैं, अतएव **गुणकूटो द्रव्यम्** यह कहा जाता है। यच्चयावत् पदार्थ कर्म्म की ढेरियाँ हैं–**'ईशावास्यमिदं सर्वम्'**[2]–के अनुसार मानना पड़ता है कि इन

---

१ तै० उप० २।६।१। २ ईशोप० १।

व्यष्टिरूप पदार्थों के अन्तरान्तर भीतर से भीतर इनका आलम्बन तत्त्व कोई अवश्य ही है। प्रत्येक पदार्थ के भीतर उस पदार्थ को उत्पन्न कर उसको अपने ऊपर प्रतिष्ठित रखने वाला कर्म्म सहित जो ब्रह्म है–वही 'सृष्टब्रह्म' कहलाता है। चूँकि इस पर कर्म्म-लेप अतिमात्रा से हो गया है। पुस्तक-घट-पट-मठ में कर्म्म ही कर्म्म दिखलाई पड़ता है। चेतना एकदम दब गई है, अतएव इस सृष्टब्रह्म को कर्म्म ही कह दिया जाता है। तात्पर्य्य यही हुआ है–**तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्**–वाला व्यष्टिरूप कर्म्मचितियों का आलम्बन ब्रह्म ही 'सृष्टब्रह्म' कहलाता है एवं वह कर्म्माधिक्यात् **कर्म्म** ही कहलाता है। इसी अभीप्राय से कहते हैं—

"कर्म्मानुबन्धसापेक्षं ब्रह्मेदं त्रिविधं पुनः। सृष्टं प्रविष्टमुन्मुक्तं सृष्ट्वाऽनुप्राविशद्धि तत्॥ ब्रह्म, सृष्टं-कर्म्म कर्म्मचितिव्यष्ट्यवलम्बनम्"॥

संसार के यच्चयावत् पदार्थों में प्रातिस्विक तो ब्रह्मतत्त्व है–वही सृष्टब्रह्म है। तत्तत् पदार्थों की प्रातिस्विक क्रिया उसी क्षररूप सृष्टब्रह्म पर अवलम्बित है एवं सारी समष्टि का आलम्बनभूत जो ब्रह्म है जिसने कि विश्व का स्वरूप स्थित रख रखा है–वही प्रविष्टब्रह्म है। सूर्य्य-चन्द्र-नक्षत्र-पृथिवी आदि युक्त इस महाब्रह्माण्ड में माया के केन्द्र से माया की प्रधि तक व्याप्त जो सर्वाधार सर्वालम्बन षोडशीपुरुष है–जिसके लिए कि—

"एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्"।[1]

–यह कहा जाता है। वही प्रविष्टब्रह्म है। इसी अभिप्राय से अभियुक्त कहते हैं—

"प्रविष्टं ब्रह्म तद्विद्याद् यत् समष्टयवलम्बनम्"॥

यह तो हुए सृष्ट और प्रविष्टब्रह्म। अब तीसरा उन्मुक्त ब्रह्म और बाकी बचता है। सृष्टब्रह्म में कर्म्म उल्वण है। कर्म्म ही का राज्य है।

---

१ कठोप० १।२।१७।

प्रविष्टब्रह्म कर्म्ममय होते हुए भी कर्म्म से स्वतन्त्र है–असंग है। तीसरा जो मायानवच्छिन्न ब्रह्म बचता है–वह सर्वथा कर्म्मोपहित है–कर्म्मातीत है। यद्यपि ब्रह्म बिना कर्म्म के नहीं रह सकता, अतएव विश्वातीत मायानवच्छिन्न ब्रह्म को सर्वथा कर्म्मातीत नहीं कहा जा सकता। तथापि **घटे घटत्वम्**–यहाँ पर जैसे घटत्व के विद्यमान रहने पर भी **घटत्वोपहिते घटे घटत्वम्**–यह शाब्दबोध किया जाता है न कि **घटत्वविशिष्टघटे घटत्वम्**–यह। तथैव यहाँ पर भी यद्यपि कर्म्म के विना ब्रह्म नहीं रह सकता तथापि–**ब्रह्मणि ब्रह्मत्वं** इसमें **कर्म्मोपहिते ब्रह्मणि ब्रह्मत्वम्**–यही वाक्यार्थबोध होता है। ब्रह्म का ब्रह्मपना कर्म्म है। विना ब्रह्म के कर्म्म कोई वस्तु नहीं है। विना कर्म्म के ब्रह्म रह नहीं सकता तथापि ब्रह्मणि का **कर्म्मत्वोपहिते ब्रह्मणि**–यह अर्थ किया जाता है। इस विषय का विस्तृत विवेचन **मानुषोत्तमकृष्ण-रहस्य** में देखना चाहिए। यहाँ पर इतना ही समझ लेना पर्य्याप्त होगा कि विश्वानुप्रविष्ट से बाकी बचा हुआ, कर्म्म के रहते हुए भी अनवच्छिन्नतया कर्म्मातीत कहलाता हुआ असंगतया वास्तव में कर्म्मोपहित जो ब्रह्म है, वही उन्मुक्त ब्रह्म है। यह नित्यशुद्ध है–नित्यबुद्ध है–नित्यमुक्त है–निरञ्जन है–निष्कल है–निर्गुण है—

> **"कर्म्मातीतं तु यत् कर्म्मोपहितं ब्रह्म भिन्नवत्।**
> **तदुन्मुक्तमिदं नित्यशुद्धबुद्धं निरञ्जनम्" ॥**

इस प्रकार एक ही ब्रह्म कर्म्मतारतम्य के कारण उन्मुक्त-प्रविष्ट और सृष्ट–इन तीन स्वरूपों में परिणत हो जाता है। विश्व भी ब्रह्म है एवं विश्व प्रविष्ट भी ब्रह्म है। विश्वातीत भी ब्रह्म है। सब ब्रह्म ही ब्रह्म है। फिर क्यों न हम–**सर्वं खल्विदं ब्रह्म, नेह नानास्ति किञ्चन**–यह कहने का दावा करें ?

इन्हीं तीनों का स्वरूप एक तीसरे प्रकार से भी देखा जा सकता है। ब्रह्म और कर्म्म ईश्वर में ये दो ही तत्त्व हैं। ब्रह्म अमृत है, कर्म्म मृत्यु है। इस प्रकार ईश्वरप्रजापति का आधाभाग मर्त्य है एवं आधा अमृत है। इनमें

जो अमृतभाग है–वह १–आत्मा (साक्षी), २–आत्मा (भोक्ता), ३–प्राणाः, ४–वित्तम्[1]–इन चार भागों में विभक्त है। चार ब्रह्म हैं, पाँचवां कर्म्म है। इन चार में जो सबसे पहला आत्मा है–वह सर्वथा अमात्र है, अखण्ड है–इसे ही गूढोत्मा कहते हैं—

"अर्द्धमात्रा स्थिता नित्या यानुच्चार्य्या विशेषतः"।

–यह इसी गूढोत्मा के लिए कहा जाता है। यही व्याकरणशास्त्र में **स्फोट** शब्द से व्यवहृत होता है। यही हमारा षोडशी असंग आत्मा है। यह षोडशी असंग आत्मा न कर्त्ता है न कारयिता है। केवल आलम्बनमात्र है। इस आलम्बन ब्रह्म पर–आत्मा, प्राण, वित्त और कर्म्म–ये चारों रहते हैं। अमात्र, तुरीय, गूढोत्मा--इत्यादि नामों से व्यवहृत होने वाला जो षोडशी स्फोटरूपपुरुष है–उसका जो आत्मक्षर है–उसका जो पहला विकार है–वही यह दूसरा आत्मा है। इसी आत्मा को **प्रथमज** ब्रह्म कहा गया है।[2] आत्मा के बाद है–प्राणाः। इस 'प्राणाः' में भी फिर आत्मा, जाया, प्रजा–ये तीन विभाग हो जाते हैं। इन तीनों में आत्मा मनोमय है। जाया वाक् है। प्रजा प्राण है। इस प्रकार 'प्राणाः' के–आत्मा, जाया और प्रजा–इन तीनों की समष्टि का नाम ही यज्ञ है। तीनों की समष्टि का नाम नहीं अपि तु, पाँच की समष्टि का नाम यज्ञ है। वित्त और कर्म्म भी इसी में शामिल हैं। आत्मा, जाया, प्रजा, वित्त और कर्म्म–इन पाँचों की समष्टि का नाम यज्ञ है, अतएव **पाङ्क्तो वै यज्ञः**–यह कहा जाता है। पाँचों में वित्त तक तो आत्मा ही आता है। वही आत्मा–जाया, प्रजा, वित्त–ये तीनों बनता है, अतएव–**यावद्वित्तं तावदात्मा**–यह कहा जाता है।

बाकी कर्म्म बच जाता है। इस प्रकार वह षोडशी का आत्मक्षर-भाग ही इस सारे प्रपञ्च का कर्त्ता-धर्त्ता सिद्ध हो जाता है। षोडशी पुरुष और प्रथमजब्रह्म प्रविष्टब्रह्म हैं एवं आत्मा-जाया-प्रजा-वित्त-कर्म्म पाँचों

---

१ द्रष्टव्य शास्त्रीजी कृत ब्रह्म-कर्म्म परीक्षा।

२ द्रष्टव्य शास्त्रीजी कृत मानुषोत्तमकृष्ण-रहस्य।

सृष्टब्रह्म हैं। इसमें कर्म्म पुर है। आत्मादि चारों आत्मा हैं एवं मायानवच्छिन्न ब्रह्म उन्मुक्तब्रह्म है। इस विषय का विशकलन–**ईश्वरकृष्ण-रहस्य** में देखना चाहिए।

यहाँ पर केवल यही समझ लेना पर्य्याप्त होगा कि आत्मा, आत्मा, प्राणाः वित्त और कर्म्म प्रत्येक पदार्थ में ये पाँचों रहते हैं। पदार्थ में नहीं रहते हैं अपि तु, पाँचों का नाम ही पदार्थ है। इनमें आदि के चार ब्रह्म हैं। कर्म्म कर्म्म है। बस, ब्रह्म और कर्म्म के अलावा और कुछ भी नहीं है। इसमें जो कर्म्म है–उसे भी हम दो भागों में बँटा हुआ पाते हैं। कुछ कर्म्म चेतनप्रतिष्ठित हैं, कुछ जड़प्रतिष्ठित हैं। विश्व में दो ही प्रकार के पदार्थ दिखलाई पड़ते हैं–चेतन और जड़। दोनों में ही क्रिया के दर्शन हो रहे हैं। अस्मदादि चेतनसृष्टि की क्रिया के विषय में तो कुछ कहना ही नहीं है। झगड़ा केवल जड़ वस्तुओं की क्रिया में रहता है। वृक्ष का पत्ता हिल पड़ता है। यहाँ पर स्वतः ही प्रश्न होता है कि वृक्ष के पत्ते को जब हमने छुआ तक नहीं तो फिर वह हिल कैसे गया? क्योंकि विना ज्ञान के क्रिया रह नहीं सकती, हो नहीं सकती। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण चेतनसृष्टि है। हमारा जो कर्म्म है–वह हमारे ज्ञान से ही उत्पन्न होता है ज्ञान पर ही प्रतिष्ठित रहता है एवं ज्ञान में ही विलीन हो जाता है।

हमारा सारा कर्म्म हमारी इच्छा पर निर्भर है। इच्छा ज्ञान पर निर्भर है। विना ज्ञान के इच्छा नहीं। विना इच्छा के तप नहीं। विना तप के श्रम नहीं, अतएव कर्म्म का सर्वालम्बन उसी ज्ञान को मानना पड़ता है। जबकि चेतनप्रतिष्ठितकर्म्मों का उत्थानपतनादि ज्ञानाधीन ही होते देखा जाता है तो क्रियासामान्यात्–कर्म्मसामान्यात् जड़प्रतिष्ठितकर्म्म को भी किसी ज्ञान का ही आधेय मानना पड़ेगा। वह ज्ञान हमारा तो है नहीं, अतएव मानना पड़ेगा कि हमसे अतिरिक्त विश्व की यावत्क्रियाओं का संचालक एक महाज्ञान है। उसी के अधीन जड़प्रतिष्ठितकर्म्म हो रहे हैं। उस सर्वाधिष्ठाता महाज्ञान को ही जो कि चेतनस्वरूप है–**परमात्मा** एवं **ईश्वरशब्द** से कहने के लिए तय्यार हैं। बतलाना इस प्रपञ्च से हमें यही

है कि विना ज्ञान के क्रिया नहीं हो सकती। क्योंकि हम चेतन में क्रिया को ज्ञानपूर्विका ही देखते हैं, अतएव हमें जड़प्रतिष्ठितक्रिया को भी ज्ञानाधीना ही माननी पड़ती है। पत्ता स्वयं जड़ है, वह हिल नहीं सकता। उसे वायु हिलाता है। वायु का झोका आता है–तो पत्ता हिल पड़ता है। परन्तु वायु भी तो जड़ है; उसे किसने हिलाया? इसका उत्तर मिलता है–ज्यौतिष से। ज्यौतिष कहता है–शनि और बुध के संयोग से वायु चलता है। परन्तु शनि और बुद्ध भी तो जड़ हैं–इनका संयोजक कौन है? इसका उत्तर है–ईश्वरेच्छा। अन्ततोगत्वा उसी व्यापक महाज्ञान पर विश्राम मानना पड़ता है। बस, चेतनप्रतिष्ठकर्म्म के हम अधिष्ठाता हैं एवं जड़प्रतिष्ठितकर्म्म का ईश्वर ज्ञान आलम्बन है। इस प्रकार चेतनप्रतिष्ठ और अचेतनप्रतिष्ठ दोनों कर्म्मों को 'ज्ञानाधीन' ही मानना पड़ता है।

इस कर्म्म के अन्तःस्तल में गोता लगाया जाता है तो इसके दो विभाग नहीं अपि तु, तीन विभाग दृष्टिगोचर होते हैं। पहला है–ईश्वर का प्रातिस्विककर्म्म। दूसरा है–जीव का प्रातिस्विककर्म्म। तीसरा है–संमिश्रण कर्म्म। कुछ काम ईश्वर करता है, कुछ काम ईश्वरांशभूत हम (जीव) करते हैं एवं कुछ काम हम और ईश्वर दोनों मिलके करते हैं। ईश्वर कर्म्म और हमारा कर्म्म मिल जाता है। सूर्य्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, औषधि, वनस्पति, पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश–इत्यादि इत्यादि कर्म्म ईश्वर के प्रातिस्विककर्म्म हैं। इनके निर्म्माण का जीवात्मा से कोई सम्बन्ध नहीं। ईश्वर अपनी इच्छा से इन्हें बनाया करता है और अपनी इच्छा से ही बिगाड़ा करता है। वायुयान बनाना, पुस्तक बनाना, मकान बनाना–गर्ज यह है कि जितना भी नया आविष्कार है–सब जीव की सृष्टि है। सेर, दो सेर, आना, पाई, अंगरखी, पगड़ी, मदरसा, कौन्सिल–इत्यादि इत्यादि पदार्थ हमने बनाए हैं। यह सब हमारा प्रातिस्विककर्म्म है। इसके अधिष्ठाता हम हैं। जीवाव्यय है, न कि ईश्वराव्यय। जंगल में ईश्वर ने एक गुलाब का पेड़ उगाया है। उसे मनुष्य शहर में ले आता है और बगीचे में गाड़ देता है। अब वह गुलाब का वृक्ष यहाँ ही प्रतिष्ठित हो जाता है। यही संमिश्रण-कर्म्म है। पुष्प पैदा करना ईश्वर का कर्म्म है। उसे बगीचे में लगाना जीव

का कर्म्म है। दोनों का संमिश्रण है। ईश्वर ने दूर्वा उत्पन्न की है–यह ईश्वर का कर्म्म है। उसे काट-छाँटकर सुपरिष्कृत बना देना **जीव का कर्म्म** है। इस प्रकार कर्म्म कुल तीन ही प्रकार के होते हैं। कर्म्मप्रपञ्च अतिगहन है।

कदली के पात में पात-पात में पात–के अनुसार ज्यों-ज्यों इसका विचार करते जाते हैं–त्यों-त्यों यह गहराता दिखलाई पड़ता है। जिस जड़ और चेतन सृष्टि का हमने जिक्र किया है–उसमें दो-दो कर्म्म रहते हैं। एक अपना कर्म्म और एक ईश्वर का कर्म्म। कर्म्म से आदान और विसर्ग दो ही कर्म्म समझने चाहिएँ। लेना और देना–इन दो कर्म्मों के अलावा आप और तीसरा कर्म्म कथमपि नहीं बतला सकते। सारा विश्व इसी आदान-विसर्ग कर्म्म से आक्रान्त है। यह कर्म्म हमारे शरीर में भी दो अधिकारियों के अधिकार में रहता है एवं जिन्हें आप जड़ समझते हैं उनमें भी दो अधिकारियों का अधिकार रहता है। हमारे शरीर का बनना, हमारा उत्पन्न होना, शरीर का जीवात्मा से सम्बन्ध होना–इत्यादि जितने कर्म्म हैं-वे सब ईश्वरज्ञानाधीन हैं। उत्पत्ति-प्रलय-स्थिति सारे कर्म्म उसी महाज्ञान के अधीन हैं जो कि सर्वत्र व्याप्त होता हुआ हमारे में भी विद्यमान है। खाना, पीना, हँसना, चलना, रोना,किसी को पाँच रूपये दे देना–ये सब हमारे काम हैं–जीवाव्यय के काम हैं। भूख लगना ईश्वराव्यय का काम है। खाना हमारा काम है। भुक्तान्न को रसासृग् आदि धातुओं में परिणत करना ईश्वर का काम है। उसी प्रकार वृक्षों का जो आदान-विसर्ग है जो कि चेतनवत् प्रत्यक्ष नहीं दीखता-वह वृक्षात्मा का काम है एवं वृक्ष का हिलना ईश्वर का काम है। अस्तु, जो कुछ हो–ईश्वर का हो या जीव का हो–सारा कर्म्म ज्ञानधीन है। कुछ कर्म्म क्षुद्रचेतनस्थ (जीवस्थ) हैं। कुछ महाचेतनस्थ हैं। जड़ कर्म्म महाज्ञानाधीन है एवं उसका प्रातिस्विककर्म्म अन्तर्गर्भ खण्डात्मास्वरूप प्रजापति के अधीन है। एवमेव चेतनकर्म्म में से कुछ क्षुद्र चेतन (जीव) प्रतिष्ठित हैं, कुछ महाचेतन प्रतिष्ठ हैं। इस प्रकार अशेष कर्म्मों का ज्ञानाधीनत्व भली-भाँति सिद्ध हो जाता है। इसी अभिप्राय से भाष्यकार कहते हैं—

"अथेदं कर्म्मापि द्विविधं तावत् पश्यामः–चेतनप्रतिष्ठितं जड़प्रतिष्ठितं च। तत्र चेतनस्थानां कर्म्मणामुत्थानप्रत्युत्थानप्रतिष्ठानां ज्ञानाधीनतया दर्शनात् तत्सामान्याज्जड़कर्म्मणामप्यशेषाणां किञ्चिदलौकिकमहाज्ञानाधीनत्वं प्रतिपद्यामहे। तच्च महाज्ञानं सर्वाधिष्ठातारमेकं चेतनविग्रहं परमात्मानमीश्वरशब्देन व्यपदिशामः। तथा चेदमशेषं कर्म्मं क्षुद्रचेतनस्थत्वमहाचेतनस्थत्वाभ्यां द्वेधा विभक्तमुपपद्यते–इत्यशेषाणां कर्म्मणां ज्ञानाधीनत्वं सिद्धं भवति"।

जिस ज्ञान का अब तक बखान करते आए हैं–उसी में ब्रह्मशब्द प्रयुक्त होता है। ज्ञान ही को ब्रह्म कहते हैं। बल के बाहर भीतर सर्वत्र अनुस्यूत बल में प्रतिष्ठित जो ज्ञानरूप ब्रह्म है–सारा कर्म्म उसी बलप्रतिष्ठित ब्रह्म से उदित होता है। उसी के आश्रय में रहता है। अन्त में उसी में विलीन हो जाता है। कर्म्म का प्रभव-प्रतिष्ठा-परायण तीनों यही ब्रह्म है। कर्म्म का अस्तित्व ब्रह्म पर निर्भर है। ब्रह्मसत्ता से कर्म्मसत्ता है। कर्म्म का कर्म्मपना ब्रह्म पर अवलम्बित है, अतएव कर्म्म के रहते हुए भी हम सारे प्रपञ्च को ब्रह्म ही मानने के लिए तय्यार हैं।

मिट्टी से उत्पन्न होने वाला घड़ा मिट्टी पर ही प्रतिष्ठित रहता है, उसी में विलीन हो जाता है। चूँकि घट का प्रभव-प्रतिष्ठा-परायण मिट्टी है, अतएव घट को हम मिट्टी ही कहने के लिए तय्यार हैं। एवमेव–ब्रह्माश्रितोदयप्रलयकर्म्म को हम ब्रह्म ही कहने के लिए तय्यार हैं। सारा कर्म्म ब्रह्म में रहता है, अतएव कर्म्मयोग-बुद्धियोग-ज्ञानयोग हेतुभूता योगविद्या अर्थात्–कर्म्मविद्या ब्रह्मविद्या ही कहलाती है। ब्रह्म-कर्म्म अभिन्न हैं। कर्म्मविद्या और ब्रह्मविद्या कहने को दो हैं, वस्तुतः दोनों एक ही हैं। कर्म्मविद्या ब्रह्मविद्या ही है। क्योंकि कर्म्म उसी का आधाभाग है। इस प्रकार यह ब्रह्मविद्या और योगविद्या दोनों ब्रह्मविद्या नाम से ही पुकारी जाती है एवं गीता में क्या है? इसका उत्तर है–**ब्रह्मविद्या-रहस्य**। गीता ब्रह्मविद्या का स्वरूप बतलाती है। ब्रह्म का, सदसद्वाद का निरूपण करती है। इसी अभिप्राय से भाष्यकार कहते हैं—

"ज्ञाने च ब्रह्मशब्दः । तस्मात् सर्वं कर्म्म०"–इत्यादि ।।

ज्ञान और कर्म्म की गाथा खूब गा चुके। अब एक बात और बतलाकर इस रहस्य को समाप्त करते हैं। जिस ज्ञान का पूर्व में विवेचन किया गया है उस ज्ञान के–सम्यग्ज्ञान, मिथ्याज्ञान, अज्ञान–ये तीन विवर्त्त हैं–ये तीन भेद हैं। एवमेव कर्म्म के भी सत्कर्म्म, विकर्म्म, अकर्म्म- ये तीन भेद हैं। सम्यक्ज्ञान, मिथ्याज्ञान, अज्ञान–इन तीनों ज्ञानविवर्त्तों से सत्कर्म्म, विकर्म्म, अकर्म्म ये तीनों कर्म्म विवर्त्त अनुगृहीत होते हैं। तीनों ज्ञानों का क्रमशः तीनों कर्म्मों के साथ सम्बन्ध है। सत्कर्म्म से सम्यक्ज्ञान होता है। विकर्म्म से मिथ्याज्ञान होता है। अकर्म्म से अज्ञान बढता है। ज्ञानकर्म्म दोनों में परस्पर अनुग्राहकता है। जैसे सत्कर्म्म-विकर्म्म-अकर्म्म से सम्यक्ज्ञान-मिथ्याज्ञान-अज्ञानोदय होता है। तथैव सम्यक्ज्ञान से सत्कर्म्म होता है। मिथ्याज्ञान विरुद्ध कर्म्मों की ओर आत्मा को प्रवृत्त करता है। आज्ञानान्धकार अकर्म्म सम्पत्ति की ओर आत्मा को झुकाता है। इन छओं में से अलग छांटकर मिथ्याज्ञान, अज्ञान, विकर्म्म और अकर्म्म–ये चार छोड दिए जाते हैं एवं सम्यग्ज्ञान-सत्कर्म्म का ग्रहण कर लिया जाता है। बस, सारा गीताशास्त्र यही बतलाता है। सम्यग्ज्ञान-सत्कर्म्म क्या चीज हैं? एवं इनका ग्रहण किन उपायों से हो सकता है? बस, सारे गीताशास्त्र का यही निष्कर्ष है।

।। इति गीताविषयरहस्ये ब्रह्मकर्म्मरहस्यम् ।।

२

